

सहजानंद शास्त्रमाला

रत्नकरण्ड प्रवचन

तृतीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'रत्नकरण्ड प्रवचन तृतीय भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें रत्नकरण्ड प्रवचन के श्लोक १२२ से श्लोक १३५ तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डा. उदयजी मेहता, सीएटल, अमेरिका के द्वारा रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थं पूज्यं श्री मनोहरजी वर्णीं ‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥
 अहिंसा परमोर्धर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥१॥
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥२॥
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
श्लोक 122	5
श्लोक 123	19
श्लोक 124	23
श्लोक 125	28
श्लोक 126	33
श्लोक 127	66
श्लोक 128	66
श्लोक 129	72
श्लोक 130	75
श्लोक 131	79
श्लोक 132	84
श्लोक 133	89
श्लोक 134	93
श्लोक 135	95

रत्नकरण्ड प्रवचन तृतीय भाग

सल्लेखना अधिकार

श्लोक 122

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे ।
 धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या: ॥१२२॥
 उपसर्ग और दुर्भिक्ष, जरा रोग में जो निःप्रतिकार/
 धर्म हेतु तनमोचन, सो कही सल्लेखना आर्य ॥

जीव का एकेन्द्रियभवों में अनन्तकाल का यापन—हम आपको आज का यह मनुष्यभव बहुत काल में दुर्लभता से मिला है। इस भव के अतिरिक्त हम आपकी बहुत पहले की स्थिति निगोदिया जीवों की थी। निगोद जीव वे कहलाते हैं जिनका बहुत सूक्ष्म शरीर है। एक श्वांस में १८ बार जन्म मरण करते हैं और वह भी श्वांस कौनसी? नाड़ी के एक बार उचकने में जितना समय लगता है उतने समय का श्वांस। उतनी ही देर में १८ बार मरण हो गया। उसी का नाम जन्म है, और सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय है। कितना सा ज्ञान, कितना कठोर दुःख। एक दृष्टि से देखें तो नरकों से कठिन दुःख है निगोद जीवों का। किसी को कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति गाली देता है तो वह यों कहता है कि तू नरक निगोद जायगा। तो नरक जाने की भी गाली, निगोद जाने की भी गाली। अब इन दोनों में बड़ा अन्तर है। नारकी जीव तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते, कितने ही नारकी सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते, सम्यग्दृष्टि होते, पर निगोद जीवों की तो बड़ी दुर्दशा है। यों समझिये जैसे कि अचेत से हों। तो ऐसी स्थिति में हम आपने अनन्तकाल व्यतीत किया। वहाँ से सुयोग से निकले तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय वायुकाय, प्रत्येक वनस्पति इन स्थावरों में गए। ये निगोद भी एकेन्द्रिय हैं, किन्तु साधारण वनस्पति हैं सो वहाँ भी बड़ी दुर्दशायें हैं। पृथ्वी हुए तो किसी ने कूटा, खोदा, पकाया। लोहा, सोना, चांदी आदिक निकालने के लिए पृथ्वी को तो भट्टियों में पकाया जाता है। जल हुए तो गरम किया, खौलाया, अनेक प्रकार के कष्ट हम आपने भोगे, पर आज कुछ पुण्योदय है, भोग सामग्री मिली है तो पूर्वभव के दुःखों का स्मरण नहीं रखते। अग्नि हुए तो उस पर पानी डाला, उसे बंद हवा में कर दिया, वहाँ भी दुःख। वायु हुए तो उसे रबड़ में रोक दिया गया, या पंखे द्वारा बिलोया गया, वहाँ भी कठिन दुःख। वनस्पति के दुख तो देखते ही हैं। फल फूल छेदना भेदना पकाना, तो ऐसे कठिन दुःख पाये।

त्रस जीवों की दशा में भी कष्टों की भरमार—एकेन्द्रिय से निकले तो दो इन्द्रिय हुए, तो वहाँ इतनी प्रगति हुई कि जिह्वा मिल गई। मगर उस जिह्वा का करना क्या है? थोड़ा मिट्टी वगैरह खा लेते। केंचुवा, जोक, शंख, कौड़ी, सीप ऐसे दो इन्द्रिय जीव हुए तो वहाँ भी कठिन दुःख। मछली मारने वाले लोग डोरी में लोहे के पास केंचुवा चिपका देते हैं और उसे पानी में डाल देते हैं मछली उस केंचुवे को खाती है। कितने ही हिंसक कूर लोग उन केंचुवों को पीस डालते हैं तो कितने कठिन दुःख पाये। वहाँ से कुछ प्रगति हुई तो तीन इन्द्रिय

जीव बने । एक नाक और मिल गई, जैसे कि चींटा, चींटी, खटमल, बिच्छू, कानखजूरा आदिक जिनके चार से अधिक पैर होते हैं, प्रायः ऐसे जीव तीन इन्द्रिय होते हैं, तो वहाँ भी बड़े दुःख । जो उड़ते नहीं और चार से अधिक पैर हैं, ऐसे जीव मिलेंगे तीनइन्द्रिय में । वहाँ भी कूटा मारा । बिच्छुओं को तो लोग कुचल देते हैं । कुछ और प्रगति हुई तो चार इन्द्रिय जीव हुए, इसमें आंखें और मिल गईं, सब कुछ देखने लगे बस इतनी भर प्रगति हुई, पर मन के बिना सब बेकार है । उन्हें भी लोग जला देते हैं, पीस देते हैं, वहाँ भी बड़े दुःख है । वहाँ से कुछ प्रगति हुई तो असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय हुए और प्रगति हुई तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए, पशु पक्षी हुए । अब पशुपक्षियों की भी दुर्दशायें देख लो, पशु कितना जुतते पिटते बोझा ढोते, और जब किसी काम के नहीं रहते तो कसायियों को दे दिये जाते । क्या जिन्दगी है उनकी? भेड़, बकरी, मुर्गा, मुर्गी आदिक की दशायें देख लो कितना इनकी निर्मम हत्यायें की जा रही हैं । ये सब दुर्दशायें हम आप जीवों की भी हुईं।

वर्तमान सुयोग से हितप्रापि का उपाय बनाने का कर्तव्य—उक्त सब दशाओं से पार होकर आज हम आप मनुष्य हुए हैं, सो मनुष्य होकर केवल एक ही काम है कि धर्मबुद्धि से रहें, मंद कषाय से रहें, किसी का बुरा न विचारें, किसी से ईर्ष्या न करें, चोरी न करें, सबके प्रति विनयभाव से रहें । जैसे चार भावनायें कही हैं—सब जीवों में मित्रता रखना, गुणियों को देखकर उनमें प्रमोद रखना, दुःखियों को देखकर दया करना, उद्घण्डता का व्यवहार करने वालों के प्रति मध्यस्थभाव रखना । और विशेष प्रगति के लिए वस्तुस्वरूप की जानकारी करना, और उसका प्रयोग करें अपने आपपर । प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् हैं । उनका उन ही में अपनी गुण पर्याय है । एक की कुछ भी चीज दूसरे में प्रवेश नहीं करती । फिर किसी दूसरे से मेरे में क्या सुख और क्यों दुख? जितने सुख दुःख होते हैं वे हमारे ही उपयोग के उस तरह के परिणमन से होते हैं । दूसरा कोई मेरा न विरोधी है और न बन्धु है । मैं सब कुछ अपना ही जिम्मेदार हूँ, जैसा करता हूँ, वैसा भोगता हूँ । घटाइये अपने आपपर । और वास्तव में अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ । यह शरीर, ये उपाधियां, ये कर्मविकार मेरे से अत्यन्त पृथक हैं, मेरे स्वरूप नहीं है, मैं तो अमूर्त हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, मेरा यहाँ कौन पहिचानने वाला है । किसमें राग करना किसमें द्वेष करना, किसका बुरा मानना । मैं स्वयं अपने आप में परिपूर्ण हूँ । मेरा सब कुछ मेरे में है, मेरे से बाहर नहीं, बाहर का मेरे में कुछ नहीं । निर्णय बनाकर मनन करके कभी सम्यक्त्वलाभ लेना, सम्यक्त्वलाभ लेकर चारित्र में बढ़ना ये मनुष्यजन्म के कर्तव्य है ।

विनश्वर देह पाकर तप संयम के आचरणों से नरभव सफल करने का कर्तव्य—लोग प्रायः प्रमाद में या विषयों की आसक्ति में व्रत आदिक से उपेक्षा रखते हैं, पर यह तो जानें कि इस शरीर का आखिर होगा क्या जिस शरीर से प्रेम रखा जा रहा है । जिसको जरा भी कष्ट नहीं होने देते । कहते कि रात्रि को न खायेंगे तो कैसे काम चलेगा, सर्विस करते हैं, देर में आते हैं, रात को खाना पड़ता है, अरे भाई यह तो एक खोटे विचार वाली बात है कि खाना पड़ता है । आखिर एक बार तो दिन में भोजन मिल ही जाता है, क्या एक बार से प्राण न टिकेंगे? न मिला अनेक बार भोजन तो क्या हर्ज? आखिर कितनी ही सेवा कर लो इस शरीर की फिर भी अन्त में क्या होगा? सो तो विचारो । जिस देह की इतनी सेवा करते वह जीर्ण शीर्ण होगा, नष्ट होगा, या तो मरण के बाद इसे जला दिया जायगा या फिर किसी नदी में बहा दिया जायगा, कौवे चोंट जायेंगे । क्यों

इस देह पर इतनी प्रीति की जा रही है? जिस प्रीति के कारण छोटे छोटे ब्रत भी नहीं ग्रहण कर पाते। जरा सा भी कष्ट नहीं सह पाते। और उन ब्रतों में कष्ट भी कुछ नहीं है बल्कि ब्रतों में आनन्द रहता है क्योंकि अनेक बाह्य पदार्थों का त्याग होने से उपयोग अपने आत्मा की ओर आता है और एक अलौकिक आनन्द जगता है। तो जो देह मिटने वाला है उससे तो काम निकाल लें आत्मा का। ब्रत तप में इसे जुटायें यह तो है बुद्धिमानी और विषयों के प्रेम में आकर इस देह को आराम में रखना। मौज में रखना यह है अविवेक।

शक्ति न छिपाकर ब्रतादि धारण करने का अनुरोध—मैया, कर्तव्य यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और अपनी वर्तमान स्थिति को न छिपाकर ब्रत संयम में प्रवेश करें। एक शब्द आता है शक्ति के अनुसार त्याग करना। पर लोग इससे उल्टा अर्थ लगाते, शक्ति के अनुसार त्याग करना याने शक्ति नहीं है तो त्याग ही न करना अर्थात् शक्ति से कम त्याग करना, अधिक न करना, शक्ति से बाहर न करना। यह तो शक्ति अनुसार त्याग बताया है। अब पूछो तो सही अपने से कि क्या शक्ति आप में है या नहीं, जरा-जरासी बातों का त्याग करनेका? शक्ति है तभी तो कोई इंग्रेज सामने खड़ा हो जाय तो कहो दो तीन दिन भी भूखे रहलें। या कोई बड़ा बोझा उठाना पड़ जाय तो उसे भी उठा लें। वैसे बड़ी सुकुमालता बगारते हैं। तो शक्ति तो है पर जरा-जरा से ब्रत तप करने की शक्ति नहीं है तो यह सोचिये कि आखिर इस मर मिटे देह का जो कि किसी कार्य में न आयगा उस देह की प्रीति के पीछे आत्मा को उत्साहीन रखना यह कोई विवेक नहीं है। जैन शासन पाने के मायने तो है उसका अनुयायी बनना और शक्ति न छिपाकर कार्य करना। त्याग में तपश्चरण में ज्ञान में यह कार्य करना उचित है सो क्या करना चाहिए। उसके लिए आचार्य महाराज ने बड़े क्रम से सारी बातें बताया है। पहली दूसरी तीसरी आदि प्रतिमावों का आचरण करना अपनी शक्ति अनुसार आगे बढ़ते जाना। इस ढंग से वर्णन है।

देवभक्ति, सत्संग, व्यसन-त्याग आदि प्रक्रियावों की प्रारम्भ से ही आवश्यकता—जो लोग यह सोच बैठते हैं कि आजकल जमाना और किस्म का है, ब्रत तप करने का जमाना नहीं है तो उनकी यह बात गलत है। धर्मसाधना का कैसे जमाना नहीं है? क्या इसका जमाना है कि मद्य, मांस, मधु वगैरह अभक्ष्य पदार्थों का सेवन किया जाय? और जमाना इसमें आपका क्या कर रहा है। अपना पक्का चित्त बनायें। रात्रि भोजन न करें। जल छानकर पिये, प्रतिदिन मंदिर आयें, ऐसा कार्य करने में तो कुछ कष्ट ही नहीं इसमें कोई जमाने की रोक नहीं। पर छोटी छोटी बातों के लिए आलस्य होना, प्रमाद होना यह तो खेद की बात है। कोई एक जमाना था जबकि बिना देवदर्शन किए कोई एक भी दिन न रहता था। और यह बात देखना हो तो बुद्देलखण्ड के देहातों में आज भी देख सकते हैं। करीब-करीब वही प्रथा आज भी देखने को मिलती है। पहले तो ऐसा होता था कि यदि किसी दिन मानों दर्शन न कर सके तो उसका बड़ा खेद मानते थे, पर आज ऐसा हो गया कि उसकी ओर लोगों का विशेष ध्यान नहीं है। मंदिर आकर देवदर्शन करने से लाभ कितने हैं सो तो विचारो। जो बालक रोज मंदिर आते हैं, कुछ धर्मध्यान करते हैं उनके आचार विचार पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। उद्धण्ड नहीं हो पाते, विनयशील रहते, गुरुजनों का समागम भी मिलता रहता है। जो घर व्यसनों से बचा रहता वह स्वर्ग समान बन जाता क्योंकि जहाँ शान्ति का वातावरण हो, जहाँ एक दूसरे के प्रति विनय का व्यवहार

हो वह घर उत्तम है। और जो लोग मंदिर नहीं आते ८-१० बजे दिन तक घर में पड़े रहते हैं अथवा सोते रहते हैं उनमें स्वच्छन्दता बढ़ जाने से उनके सभी कार्यों में बाधा आती है। मंदिर का आना लौकिक कामों के लिए भी ताजा बना देता है और परमार्थ काम के लिए भी तैयार बना देता है।

रत्नत्रयधर्म की आराधना का कर्तव्य—भैया, ऐसा दुर्लभ मानवजीवन पाया तो कर्तव्य क्या है इस बात पर बहुत ध्यान देना और कर्तव्य का पालन करना। कर्तव्य यह है कि सम्यगदर्शन प्राप्त करें और अपनी शक्ति अनुसार चारित्र में लगें। जीवन की कई छोटी-छोटी बातें जिन में न आजीविका का सहयोग है, न धर्म का सहयोग है, बल्कि आजीविका में भी फर्क आये और धर्म में भी फर्क आये ऐसे कितने ही फालतू काम करने के लिए लोगों की उमंग होती हैं, और उनमें उनको कषाय जगती हैं, ये बातें सब उसे धर्म से दूर रखती हैं। जितना बने उतना दूसरों के उपकार के काम आये, यदि काम न आयें तो सब जीवों के सुखी होने की भावना रखें। स्वप्न में भी किसी जीव के विरुद्ध चित्त में बात न आये। कषाय या विरोध रखने से आखिर नुकसान किसका है? खुद का। क्योंकि इस जीव के साथ कार्मण वर्गणायें विस्त्रसोपचय के रूप में पड़ी रहती हैं। जो कर्म बंधे हुए पड़े हैं वे तो बंधे हुए ही पर उनसे अनन्तगुनी कार्मण वर्गणायें विस्त्रसोपचय के रूप में पड़ी रहती हैं। जो कर्म बंधे हुए पड़े हैं वे तो बंधे हुए ही पर उनसे अनन्तगुनी कार्मण वर्गण के विस्त्रसोपचय उम्मीदवार कर्म पड़े हुए हैं। तो जहाँ जीव ने जैसा कषाय किया, जैसा भाव किया उसही समय वे कर्मरूप बंध रहे। थोड़ीसी गलती में, थोड़ीसी स्वच्छन्दता में कर्म बंध तो गए मगर उनके उदयकाल में कितना कष्ट भोगना पड़ेगा। वह बड़ी अस्थ्य बात होगी। इससे यह जानकर कि मेरे जीव के साथ विस्त्रसोपचय की कार्मणवर्गणायें लगी हैं। जहाँ ही मेरे से गलती हुई, विषय कषाय के भाव रहे कि वे कर्मरूप बंध जायेंगे, फिर मुश्किल पड़ेगी। तो इस नरजीवन में करने योग्य काम है अभक्ष्य से दूर रहना, किसी का बुरा न विचारना, गुणियों के गुणों में प्रेम और हर्षभाव बढ़ाना। जो अच्छे काम करेंगे तो भविष्य अच्छा रहेगा। जिनकी आज परिस्थिति खराब हैं उनका वह पूर्वजन्म के पाप का फल है कितने ही दरिद्र है। कितने ही अनेक कारणों से कष्ट में पड़े हैं जिनको देखकर दया उत्पन्न होती वह किसका फल है? धर्मभाव में न रहे, अर्थमें रहे, विषयकषायों की उमंग में रहे, दूसरों का दिल दुःखाया, धर्मकार्यों में विघ्न डाला, मुनियों पर उपद्रव किया। अनेक कार्य ऐसे खोटे बने जिनका फल है कि आज यह जीव दुर्दशा में पड़ा हुआ है। जीवन में यह ही कर्तव्य है कि हम अपने सम्यगदर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान को सम्हालें।

अपने भविष्य की अपने आप पर जिम्मेदारी होने से सद्भावना का प्रभाव—जिस बात को हम प्रभु के सामने कह सकते जनता के सामने कह सकते वह बात भली हुआ करती है और बुरी बात न भगवान से कह सकते और न जनता के बीच कह सकते। तो जो बात कहने में एक शोभा होती है या कुछ आनन्द जगता है उस काम के करने में जो आनन्द होता उसका क्या कहना? अब इस सभा के बीच किसी को व्याख्यान देने के लिए खड़ा कर दिया जाय तो क्या वह यह कह सकेगा कि जितना दूसरों की बुराई करते बने उतना करना चाहिए। उसमें मौज आता है ऐसा तो कोई नहीं कह सकता। तो इससे समझना चाहिए कि जो बात नहीं कहीं जा सकती वह अत्यन्त बुरी है और अपने कष्ट के लिए है। एक यह निर्णय बनावो कि जो बुरा करेगा,

जो दूसरों से ईर्ष्या करेगा, उनके कार्यों में विघ्न डालेगा, सतायेगा, उसका फल कौन भोगने आयगा? जो अन्याय से धन कमायगा, जो दूसरों का दिल दुखायगा उसका फल दूसरा कौन भोगने आयगा? कोई दूसरा न भोगने आयगा, जो आपके बड़े हितैषी हैं, घर के ही लोग हैं, जिन पर आपको बड़ा विश्वास है। लड़के, स्त्री, भाई, मित्रजन कोई भी पाप के बंधते समय या कर्मों के फैलाव में हिस्सा लेने वाले नहीं हैं, हो ही नहीं सकते। वस्तु का स्वरूप ही नहीं ऐसा कि आपकी परिणति को कोई दूसरा भोग सके जब ऐसा एक स्पष्ट न्याय है तो क्यों अपने को विपत्तियों के कुवं में ढकेला जाय?

देवभक्ति, स्वाध्याय और सत्संग के बिना उन्नति की अपात्रता—भैया, अच्छे बनना, ज्ञान पाना, कषाय मिटाना, प्रभु भक्ति से यह ही तो फायदा है। भगवान की भक्ति करें गुणस्मरण करें, दर्शन करें और अपने आपके विचार में आचरण में जो चले आये हैं शुरू से, वासना से उनमें अन्तर न डालें तो यह क्या कहा जाय? या यों कहो कि हम प्रभु को बहकाते हैं जो रोज-रोज प्रभु के सम्मुख आकर कहते हैं कि आत्म के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय। और घर जाकर कहीं जाकर मंदिर से निकलकर वही कषाय, वही आसक्ति, वही विरोध, वही दुर्भावना रहती है तो क्या फल पाया उसने? धर्म समागम पाने का लाभ क्या पाया? कहते तो हैं कि मुझे मोक्ष चाहिए, पर ये मोक्ष का रास्ता पाने के लक्षण हैं क्या? जैसे बहुत प्रारम्भ में विषयकषाय के भाव थे वैसे ही ३०-४० वर्ष के बाद भी धर्म का नाम लेकर भी वही का वही रहे तो इस पर कुछ अपने पर तरस आना चाहिए। क्यों नहीं उन्नति हुई? उसके मूल दो कारण हैं? एक तो विधि से स्वाध्याय नहीं हुआ और दूसरे सत्संग नहीं मिला। ये दो अभाव मनुष्य के ज्यों के त्यों पतन की स्थिति में बने रहने के कारण हैं। भले ही स्वाध्याय का नाम लेकर स्वाध्याय किया, पर स्वाध्याय की विधि यह है कि जो भी दो चार लाइनें पढ़ें उनका जो अर्थ है उसे अपने आप पर घटित करें। सभी विषय अपने आप पर घटित किए जा सकते। यदि अपने आप पर घटित करते हुए स्वाध्याय किया गया होता तो अवश्य ही हमारे बर्ताव में अन्तर आ जाता। दूसरी बात-सत्संग नहीं किया। जो पुरुष विरक्त हुए आत्मा की धुन वाले हुए कल्याण के अभिलाषी हुए जैन शासन के अनुसार प्रवृत्ति रखने वाले हुए उनका संग अधिक करना।

विनय व गुणानुराग से धर्मलाभ की पात्रता—भैया। सत्संग व धर्म जागरण बनता है भक्ति अनुराग और सेवा की बुद्धि में। कहीं जैसे अन्य जगह जबरदस्ती से काम बना लेते, जैसे गाय दूध नहीं देती तो उसके दोनों पैर रस्सी से बांध देते, एक आदमी डंडा लेकर खड़ा हो जाता और एक आदमी दूध निकालने लगता तो गाय डर के मारे दूध दे देती, बाद में उसके पैरों की रस्सी खोल देते और ऊपर से एक डंडा भी गाय के मारते, तो जैसे जबरदस्ती से वहाँ दूध निकाल लेते इस तरह की जबरदस्ती यहाँ न चलेगी। धर्म की बात पाने के लिए बड़ी भक्ति चाहिए, विनय चाहिए कृतज्ञता चाहिए। इन गुणों से अगर हृदय पात्र बनें तो वहाँ धर्म की बात निकल पायेगी वहीं किसी जगह से भगवान की पूजा से धर्म निकलता होता तब तो खूब भगवान की पूजा करते और वहाँ से धर्म निकालते, लेकिन जबरदस्ती यों धर्म नहीं मिलता। यदि प्रतीति है, गुणानुराग है प्रभु के गुणों का स्मरण करके और प्रभु के लिए, मंदिर के लिए, प्रभु की भक्ति के लिए, प्रभु की वाणी के लिए, प्रभु के उपदेश प्रचार के लिए आपका सर्वस्व भी लग रहा, यदि इतनी हिम्मत है इतनी तैयारी है तो वह प्रभु के गुणस्मरण

रूप सत्संग से, धर्म पाल लेता है। धर्म का मिलना किसी स्थान से जबरदस्ती नहीं होता किन्तु अपने आपकी तैयारी से होता है। तो एक ही कुञ्जी यह जानकर कि जैसा मैं करूँगा वैसा ही भरूँगा, मेरा मैं ही जिम्मेदार हूँ। हमेशा अच्छे कार्य करें, बुरे कार्य न करें। अच्छे के लिए हां-हां और बुरे के लिए ना-ना, ऐसा एक दृढ़ संकल्प बने तो हम अपने इस दुर्लभ मानवजीवन को सफल कर सकते हैं।

श्रावक का ब्रतपालन सहित जीवनयापन पूर्वक अन्त में समाधिमरण के कर्तव्य का निर्णय—इस भव्य श्रावक ने अपने जीवन में सार तत्त्वमात्र अपने चैतन्यस्वरूप में अपने आपका अनुभव करना माना है एक सहज चित्तस्वरूप के अनुभव के सिवाय शेष समस्त, कार्य मेरे लिए प्रयोजनवान नहीं हैं, यह जिसके चित्त में भली भाँति निर्णीत है ऐसे इस श्रावक ने अपने जीवन को ब्रती रूप में बिताया और अन्त समय में इसका निर्णय है कि मैंने जीवन में सदाचार पाला, ब्रत धारण किया। आत्मतत्त्व की भावना की, यदि अन्त समय में परिणाम विचलित हुए तो मेरा किया कराया यह सब व्यर्थ रहेगा। यद्यपि पूरा व्यर्थ नहीं रहता फिर भी आगे धर्मपरम्परा, मोक्षमार्ग परम्परा तो न बनेगी इस कारण श्रावक के मन में यह दृढ़ निर्णय है कि अन्त समय में मैं समाधिभाव ही रखूँगा, जिसे कहते हैं समाधिमरण। देखिये—दोनों बातें आवश्यक हैं, कोई सोचे कि मरण समय में समता परिणाम रख लूँगा, जीवन में क्यों ब्रतादि का कुछ कष्ट करूँ, तो ऐसा जिसके प्रमाद अभी से है उससे ऐसा नहीं हो सकता कि मरण समय में अपने परिणाम अच्छे रख सकेंगे। जैसे कितने ही लोग ऐसा विचार करते हुए पाये जाते हैं कि उम्र तो अभी बहुत है, धर्म पालन तो वृद्धावस्था में किया जायगा। अभी जवानी है तो अनेक प्रकार के आराम, सुख ये सब भोगने चाहिए, और धर्मपालन तो वृद्धावस्था में कर लिया जायगा, ऐसा जिसके अभी से प्रमाद है वह न जीवन में कर पाता है न वृद्धावस्था में करता है। तो ऐसे ही कोई सोचे कि मरते समय अच्छे भाव रहेंगे तो आगे की गति भली होगी सो मरते समय परिणाम ठीक कर लिए जायेंगे, ऐसा जिसका अभी से भाव है कि पहले से क्यों ब्रतादिक धारण करना? भले प्रकार धर्मध्यान करना यह तो उसी समय कर लिया जायगा वह नहीं कर पाता।

आवीचिमरण के निरन्तर अवसरों पर निरन्तर समता समाधिभाव का कर्तव्य—देखिये मरण दो प्रकार का होता है—एक आवीचिका मरण और एक तद्भव मरण। तद्भव मन तो अन्त में मर गए, शरीर से अलग हो गए उसका नाम है उद्धव मरण। और आवीचि मरण इनके प्रति सेकेण्ड चल रहा है, प्रति समय चल रहा है। जैसे कहा करते हैं ना कि जो आयु गई वह वापिस नहीं आती, तो ऐसे ही समझिये कि आयुकर्म के जितने परमाणु बांधे थे निषेक वर्णायें, सो जिनका उदय आता है वे निकल गए, समय निकल गया, उस समय की आयु का मरण तो हो गया, प्रति समय हम मर रहे हैं। आवीचि मरण की दृष्टि से प्रति समय हमारी आयु जा रही है। तो कर्तव्य यह है कि हम प्रति समय समाधि का भाव रखें। समाधिमरण में मुख्य काम रागद्वेष न करने का है और आत्मा के सहजस्वरूप की दृष्टि रखने का है। चूँकि बुद्धापे में या कठिन रोग में जहाँ कि यह निश्चित सा है कि मरणकाल आ गया है उस काल में फिर आहार वौरह की वाञ्छा या इनका आरम्भ या इनमें दिल लगाना यह बाधक है समाधि का इस कारण इनका त्याग किया जाता है, और समाधि मरण में आहार पानी का त्याग करा देना इसकी मुख्यता नहीं है। ये सहायक हैं, मुख्यता है परिणामों की निर्मलता की। तो चूँकि

आवीचि मरण में हमारा पूरा मरण नहीं हो रहा, इस भव से हम नहीं जा रहे, इस कारण आहार आदिक के त्याग की तो आवश्यकता नहीं है इस रोज के मरण में, प्रति समय के मरण में, लेकिन विषयों में आसक्ति न रहे, गुजारे के लिए ही इनका उपयोग है, ऐसी दृष्टि रहे और रागद्वेष मोहभाव न लायें। रागद्वेष तो आयगा जब जीवन है और घर है, पर मोह रंच न आये और रागद्वेष में हीनता रहे, ऐसा प्रयास करें तो आवीचिमरण के लिए समाधि ही समझियेगा।

सत्संग धर्माचरण द्वारा जीवन को शान्ति सुवासित रखने का कर्तव्य—इस लोक में जो मनुष्य मनुष्य है ये अन्य जीवों की भाँति प्रकृत्या विषयकषाय के वश है और फिर मिले विषयकषाय वाले पुरुषों का संग तो इसके विषय कषायों में वृद्धि बनती है। और यह असत्संग जीवन को बरबाद कर देता है। अच्छा यही है कि जिस प्रकार मेरे विषयों का अनुराग कम हो, कषायभाव कम हो और ऐसे ही संतजनों का, सत्पुरुषों का सत्संग रहे अधिक जो विषयकषायों को पसंद नहीं करते, धर्म के मार्ग में चलने के इच्छुक हैं तो उनके विषय और कषाय दोनों पर विजय बन सकती है। धर्म गोष्ठी के मायने और है क्या? अपने ही नगर में, अपने ही मोहल्ले में हर जगह दो चार श्रावक ज्ञानी आत्मकल्याणी रहते ही हैं। अपनी कषाय मंद करके धर्मात्माजनों की गोष्ठी रखना, अर्थात् मिलकर धर्मचर्चा करें। आत्मकल्याण बने उस प्रकार की प्रेरणा बने तो यह एक अलौकिक काम है। पहले समय में तो रोजगार की सीमा रखते थे विवेकी पुरुष। जिसके अनेक दृष्टान्त आये हैं। एक सीमा रख लेते थे कि इतने की बिक्री हो जाने पर दुकान बंद कर देना और मंदिर में पहुंचकर धर्मचर्चा करना। अब तो किसी का यह उद्देश्य ही न रहा कि ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, और अधिक समय तत्त्ववार्ता में जाय, पुराण पुरुषों की कथा में जाय, ऐसा जीवन व्यतीत हो तो उससे लाभ है। और गप्सप्प में समय जाना, यहाँ वहाँ की बुराइयों में समय जाना, यह तो अपने लिए एक घातक कदम है। जीवन में यह ध्यान रहे कि मेरे उपयोग में किसी के दोष का आकार न आवे, आवे तो गुणों का आकार आवे। दूसरे के गुणों की चर्चा से, गुणों के ध्यान से गुणों का आकार आयगा, दूसरे के दोष की चर्चा, दोष का ध्यान रखें तो दोषों का आकार आयगा। भला श्रावक यह चाहता है कि मेरी उपयोगभूमि में दोषों का आकार ही न बने। तो आवीचिमरण के समय यह श्रावक अपने आपको सदैव समाधानरूप रखता है।

निष्प्रतीकार उपसर्ग के आने पर सल्लेखना की अङ्गीकारता—जिसने अपना जीवन सहज परमात्मतत्व की बड़ी दृढ़ भावना में व्यतीत किया वह श्रावक अब कठिन परिस्थितियों में जिन में कि मरण सम्भव है इसकी तैयारी कर रहा कि मेरे परिणामों में अब रागद्वेष का प्रसंग रंच मत आवो। वे कौन-कौन सी स्थितियां हैं जिन स्थितियों में समाधिमरण किया जाता है। जिनका कोई उपाय नहीं है दूर करने का ऐसे उपसर्ग आ जाय तो समाधिमरण बताया है। ऐसी परिस्थितियां यहाँ कहीं जायेंगी उन सबमें निष्प्रतीकार यह विशेषण लगेगा, अर्थात् जिसका कोई प्रतीकार न हो सके, उपाय न चल स के ऐसी कठिन परिस्थितियां आयें तो समाधिमरण स्वीकार करना चाहिए, जिनमें पहली बात कहीं जा रही है कि कठिन उपसर्ग कोई आये, जिसका कोई उपाय ही नहीं है, जैसे जंगल में किसी शेर ने आक्रमण कर दिया, मुख से खाया, पंजों से नोचा, विदारण कर दिया उस जगह में क्या प्रतीकार। किसी शिकारी ने बाण मार दिया तो अनेक उपद्रव होते ही हैं, निष्प्रतीकार है वह

उपसर्ग । जो उपसर्ग कठिन है, जिसका दूर होना सम्भव नहीं तो ऐसे उपसर्ग के समय समाधिमरण करना चाहिए । श्रावक पर भी कठिन उपसर्ग सम्भव है । तो पहली परिस्थिति है यह कि निष्ठ्रीकार उपसर्ग आया है सर्व का परित्याग करके, शरीर की भी सुध छोड़कर एकमात्र चित्त्स्वरूप की दृष्टि रहे । कितना पवित्र कार्य है यह कि जो इस शरीर से विदा हो रहा हो वह अपने इस पवित्र सहज ज्ञाननन्दस्वरूप अंतस्तत्व को दृष्टि में ले । उस ही का अनुभव करें कि मैं यह हूँ और इस प्रकार से शरीर से विदा हो रहा है तो वह आदर सहित पूज्य है, पवित्र है, यह कार्य चाहिए, पर मरणसमय में ऐसा परिणाम रह सके उसके लिए जीवनभर तैयारी चाहिए ।

अपने में असद्भाव न होने देने की चेतावनी—भैया, जीवन क्यों बुरा बिताया जाय? जो मिला है वह सब विनाशीक है । यह शरीर भी विनाशीक है, और यदि दूसरे का अपकार किया जाय, बुराई की जाय, कष्ट पहुंचाया जाय तो ऐसे तन के पाने को धिक्कार है । उसका परिणाम है कि आगे भी जन्ममरण चलेंगे और खोटा शरीर मिलेगा । सङ्कों पर जब देखते हैं जैसे कि आज ही सुबह मैंने देखा कि नीचे दो बालक दो गधों को लिए जा रहे थे, वे एक जगह कूड़े पर बैठ गए, गधे तो उस कूड़े में अपना मुख देकर कुछ खा रहे थे और वे दोनों बालक कूड़े को छितर बितर करके कुछ खोज रहे थे, ऐसी जिन्दगी मिलती है खोटे भाव वाले पुरुषों को । आज एक अच्छी मनुष्यपर्याय में हैं, कहीं मान लो कि ऐसी दुर्दशा में पहुंचे तो यह कार्य करना पड़ता है । गधे ही बन गए तो कूड़े में, गंदगी में, खराब चीज में मुख देते रहना पड़ेगा । कोई यह ठेका तो नहीं है कि जो आज मनुष्य है वह मनुष्य ही रहेगा या मनुष्य से बढ़कर ही चलेगा । जैसे कारनामे होंगे वैसा आगे फल भोगना होगा । तो जगत के जीवों को देखकर कुछ अपने आप पर तरस तो करना चाहिए कि मुझे ऐसा ही बने रहना पसंद है या संसार के सारे झँझटों से निवृत्त होना सही है? संसार के जीवों में किसी भी जीव के प्रति अपने चित्त में बुराई का अंश न आये, अहित का अंश मत आये । किसी के द्वारा मेरे को कष्ट भी पहुंचे तो भी उसके एवज में इस जीव को यों कष्ट पहुंच जाय ऐसी भाव कभी न आना चाहिए । कोई कष्ट आया है तो ज्ञानबल से कष्ट को कुछ दूर कर लीजिए । सोचिये अपने ही असाता का उदय है जिससे कि अन्य लोग बाह्य कारण बन रहे हैं । इसमें अपराध मेरा है, दूसरे का अपराध नहीं है । वह अपराध आज का तो नहीं है मगर पूर्व कर्म ऐसे ही बाधे थे जिस बद्ध कर्म के उदय में आज दुख का सामना करना पड़ रहा है, ऐसा सोचकर दूसरे पर क्षमाभाव ही रखना । वह बात कठिन नहीं है । हां जिसके क्रोध की प्रकृति है उसको लगेगा कि यहाँ गप्प मारी जा रही है, पर यह गप्प की बात नहीं है यह की जा सकने वाली बात है । ज्ञानप्रकाश में यह सब बात सम्भव होती है ।

निष्ठ्रीकार उपसर्ग आने पर धर्माराधनापूर्वक सल्लेखना का धारण—जिसने अपना जीवन सद्गावों में व्यतीत किया वह पुरुष तो यहाँ भी आदर्श है, पूज्य है, पवित्र है और स्वयं के लिए तो वह कल्याणरूप है, ऐसा ही पुरुष मरण समय में अपने भावों की सम्माल रख पाता है । कोई पूर्व जन्म का बैरी हो, मनुष्य हो, पिशाच हो, कोई उपसर्ग करे । भील म्लेच्छ सिंह आदिक आक्रमण करे या जल में गिर गया, वन में आग लग गई, ऐसे कितने ही कठिन उपसर्ग होते हैं, वहाँ क्या करना? समाधिभाव, रागद्वेष का परिहार, अपने चित्प्रकाश की दृष्टि

। देखिये जिसने जो मिठाई खायी है उस मिठाई का नाम सुनते ही उसके गले में मिठास उतरने लगती है । उसके घूँट में ही मीठापन आ जाता है, क्योंकि अनुभव है उसको ऐसा ही जिसने जीवन में आत्मा के इस चैतन्यस्वरूप का अनुभव किया है । एक किसी भी समय उसका नाम सुनते ही सच्ची बात सामने आ जाती है । अब सोचिये कि हमें अपने जीवन में क्या करना? एक ध्येय बनाइये कि जितने बार अधिक स्वानुभव मुझे प्राप्त होगा मुझे वह कार्य करना । मित्रजन, कुटुम्बीजन अनेक लोग जिन में बैठकर समय गुजारते, वार्ता करते ये सब कोई भी मेरे आत्मा के जिम्मेदार हैं क्या? वे मेरे सहयोगी हैं क्या? आत्मकल्याण कर देंगे क्या? तो उत्तर आयगा—निल । किसी दूसरे से मेरा कुछ नहीं हो सकता । तब समय अन्य बातों में न गुजर जाय और धुन रहे यह कि मेरे को ऐसा अवसर अधिक प्राप्त हो जिसमें मैं स्वानुभव कर सकूँ । ऐसी जिनकी वाञ्छा है उनको कभी कुटुम्ब में, मित्रों में बोलना पड़ेगा तो ऐसी वाणी उनकी निकलेगी कि जिससे दूसरों का भी उपकार हो । यदि कोई कठिन उपसर्ग आ जाय तो उस समय यह जानकर कि यदि इस शरीर को देखूँगा, इसका लगाव रखूँगा तो मेरे रत्नत्रय धर्म की हानि होगी । तो जब यह शरीर छूटने को ही है और साथ ही इस धर्म के रत्नत्रय की हानि हो तो उसमें तो उसका सब गया । धर्म को न नष्ट करेगा । उस धर्म में और अधिक प्रीति करेगा ।

निष्प्रतीकार उपसर्गादि आने पर सल्लेखना धारण का प्रयोजन धर्ममय अपने को अनुभवना—जब कभी कठिन दुर्भिक्ष आ जाय, दाने-दाने का मुहताज होना पड़े, जिसमें जीवन सम्बन्ध न रहे वहाँ ही समाधिमरण स्वीकार करना चाहिए । कहीं किसी जंगल में ही फंस गए जिसका ओर छोर नहीं विदित हो रहा, जहाँ अनेक हिंसक पशु रहते हैं, खूब चलने पर भी फंसाव ही फंसाव अधिक बढ़ता जाय, कहाँ जायें, क्या करें? जंगल से निकलना दुश्वार हो गया, तो ऐसी स्थिति में भी समाधिभाव रखना, खाना पीना तो वैसे ही नहीं मिलता है, जंगल में फंस गए हैं तो उस स्थिति में यह करे क्या? अपने रत्नत्रय धर्म की रक्षा करें, यह ही हुआ एक समाधिमरण । जब निष्प्रतीकार बुढ़ापा आ जाय, जैसे वृद्धावस्था में इन्द्रियां जीर्णशीर्ण हो गई, उठा बैठा भी नहीं जा सकता अन्न-पानी भी नहीं चल सकता, कठिन व्याधि जरा भी हुई तो वहाँ यह ही समाधिमरण स्वीकार करें अर्थात् रागद्वेष परिणाम तजकर अपने सहज परमात्मस्वरूप की इष्टि का ही प्रोग्राम रखें और ऐसी सद्भावना की जब दृष्टि चलती है तो अन्य आहार आदिक का भी त्याग होता है । समाधिमरण शब्द सुनते ही मुख्यता लाना चाहिए कि शरीर से भी ममता लगाव का त्याग कर दें । जो लोग समाधिमरण के लायक परिस्थिति में न हो और समाधिमरण की ठान लें तो वे तो जिन आज्ञा से बाहर काम कर रहे, जैन शासन के अन्तर्गत नहीं हैं । क्या प्रयोजन है? जब शरीर चल रहा है और धर्मध्यान चल रहा है फिर भी समाधिमरण कर रहे इसका कारण क्या है? असमय में जबरदस्ती मरण, इसका फल है कि असंयमी जीवन मिलेगा आगे । मान लो देव भी हो गए तो कौन सा लाभ बहाँ लूट लिया? मनुष्यों से भी अधिक लोभ है देवों में । लोभ कहीं वस्तु के रखने का ही नाम नहीं है, किन्तु बाह्य पदार्थों की तृष्णा हो उसे लोभ कहेंगे । देवगति में लोभकषाय अधिक बताया है । यद्यपि वहाँ रोजगार करना पड़ता नहीं, अन्न जमा करना नहीं पड़ता । बड़ा आराम है मगर दूसरे के ऋद्धि वैभव को देखकर झुरना, हाय मेरे न हुआ ऐसा, वे इसी भाव में मरे जा रहे हैं ।

संयमपात्र मनुष्यभव की संयम से ही सार्थकता—मनुष्यभव है, संयम से रह सकते हैं, ऐसे उत्तम भव में बिना ही कारण समाधिमल की ठान लेना, इसका मूल आशय बढ़िया नहीं है। हाँ जो कारण बताये गए हैं समाधि के वे कारण जुटने पर समाधिमरण किया जाना चाहिए। कोई रोग ऐसा आ जाय जिसके मिटने का कोई उपाय न रहे तो अपनी धर्मरक्षा के लिए समाधिमरण करना। तो इस श्रावक ने इस शरीर को सेवक जानकर इसको भोजन पान का वेतन दिया। सो जब तक यह शरीर हमारी धर्मसाधना में सहयोग के लायक रहे तब तक तो इसको खानपान दें, जब धर्म के लिए उससे सहयोग न मिले बल्कि अर्धम के लिए प्रेरणा जग रही है ऐसी कठिन व्याधि आ जाय, कठिन मरणावसर जैसी दशा आ जाय तो वहाँ एक ही निर्णय रखना है कि इस शरीर का भी लगाव छोड़े, जो शरीर एक दिन यों ही जला दिया जायगा उससे क्या लगाव रखना। जिसने इस दृष्ट्यमान् समस्त जगत को असार बेकार जाना है उसमें ही यह हिम्मत बन सकती है कि वह सर्व का राग छोड़कर अपने इस सहजस्वरूप की आराधना करे।

सल्लेखना का प्रयोजन कषायों को कृश करना—सल्लेखना का अर्थ है भले प्रकार कृश करना। सत् मायने अच्छी प्रकार से लेखना मायने कृश करना, लिखबिलेखने धातु का अर्थ क्षीण करना है। किसको क्षीण करना? कषायों को। जब मरण समय आ जाये तो उस समय कषायों को दूर करना और आत्मदृष्टि सहित शरीर से प्रयाण करना इसका नाम है सल्लेखना। इस सल्लेखना को तब किया जाता है जब उपायरहित उपसर्ग आये, दुर्भिक्ष आये, बुढ़ापा आये, इसी प्रकार जब कभी ऐसा रोग आये कि जिसका कोई उपाय न बने तब समाधिमरण अर्थात् सल्लेखना धारण करे। जैसे किसी प्रकार का कठिन ज्वर अतिचार श्वांस, कफ आदिक बढ़ जाय और फिर वह जैसे कि टीबी का एक अन्तिम तृतीय रूप आ जाय अथवा कैन्सर आदिक की प्रबलता आ जाय जहाँ मरण समय है ऐसा जाने तब सल्लेखना धारण करना चाहिए। सल्लेखना के सम्बंध में दो बातें हैं। कषायों को दूर करना अथवा आहार को घटाना, और घटाते-घटाते जल पर आ गए, फिर कभी जल भी छोड़ दिया। तो कषाय दूर करना यह तो हमेशा का कर्तव्य है, उस समय में विशेष विचार करने की जरूरत नहीं रहती। न भी सल्लेखना करे तो भी कर्तव्य है कि वे कषायें दूर रखें, पर मरण समय में तो कषायों को विशेषतया दूर रखना, समता परिणाम लाना यह कर्तव्य है। इसमें विशेष विचार यों न करें कि ये तो जिन्दगी में भी करते थे। मरण समय में विशेष कर लिया। पर आहार आदिक का जो त्याग है इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

सल्लेखना में शारीरिक परिस्थिति निरखकर ही आहारादि के त्याग का औचित्य—शरीर यदि ठीक है और कुछ भावुकता में आकर या कुछ लोगों के द्वारा उकसाया जाने पर आहार जल का त्याग कर दिया तो उसमें उसका खुद का अकल्याण है। संक्लेश होगा, भीतर से सद्भाव मिटेगा, तो उसमें लाभ कुछ नहीं हुआ, बल्कि हानि हुई, क्योंकि ऐसे भावों से मरण कर के मान लो कदाचित जीवन के ब्रत तप का कुछ प्रभाव रहे तो देव बन जायेंगे। वहाँ भी असंयमी जीवन रहेगा और विशेष संक्लेश हो गया तो दुर्गति प्राप्त होगी, इस कारण आहार आदिक त्याग वाला जो विभाग है उसमें विचार करने की जरूरत होती है। हमारे गुरुजी तीन वर्ष पहले से मुझ से कहने लगे थे कि जब मेरा मरणकाल आये तो तू जरूर हाजिर रहना। तो हमने कहा

महाराज यह भी कोई कहने की बात है। यह तो हमारा काम है और सौभाग्य है कि सेवा करने को मिले। तो कुछ उनको विश्वास था कि इसकी देखरेख में जो एक बात बनेगी वह ढंग से बन जायगी, आखिर हुआ भी ऐसा ही। मरण से डेढ़ माह पहले ही चातुर्मास के बीच में ही आदमी भेजकर हम को बुलवा लिया। उस समय हमारा गया में चातुर्मास चल रहा था। खैर हम गुरुजी के पास ईसरी पहुंचे, वहाँ गुरुजी की समाधिमरण के समय हम निगरानी में रहे। तो कभी ऐसा भी हो जाता कि किसी के विशेष बाधा है तो उस बाधा में अतीव संक्लेश परिणाम कर के मरेगा। तो परिस्थिति देखी जाती, पृथक्-पृथक् निर्णय कोई नहीं रहता समाधिमरण में कि ऐसा ही करें। त्याग एक उत्सर्ग मार्ग तो है पर कुछ बात बिना लिखी भी होती कि ऐसी परिस्थिति हो तो यों करना। वह तो देखरेख करने वाले किसी समर्थ एक निर्णयिक के निरीक्षण की बात है। जिस प्रकार भी हो, लक्ष्य यह है कि हमारे भावों में संक्लेश न आये और आत्मस्वरूप की भक्ति में रहकर, जिनेन्द्र देव के गुणस्मरण में रहकर हमारी मृत्यु हो। लक्ष्य उसका एक रहता है, फिर उस बीच कुछ बन जाय तो तत्काल प्रायश्चित भी होते, अनेक सावधानियां तो होती ही है। ऐसे समाधिमरण में बड़ी सावधानी रखी जाती है।

निष्प्रतीकार रोग होने पर धर्मार्थ सल्लेखना का कर्तव्य—आहार छोड़ देने वाला काम ऐसे ही समय में होना चाहिए कि जहाँ कठिन उपसर्ग आदिक आये, ऐसा रोग आये कि जिसका कोई इलाज सम्भव नहीं। पेट अत्यन्त कड़ा हो गया, शरीर पर सूजन आ गई और तिस पर भी उसके रोग की वृद्धि होने को है। ऐसी स्थिति में धैर्य धारण कर उत्साह पूर्वक सल्लेखना धारण करना चाहिए। उस समय श्रावकजन गृह कुटुम्ब से पूर्ण ममता छोड़ देते हैं। एक घटना है बुन्देलखण्ड की कि एक जैन घर में एक की स्त्री के प्रसूति हुई। प्रसूति होते ही उस स्त्री के कोई मर्ज बन गया और उसकी मरणासन्न दशा बन गई। बच्चा हुए कोई दो दिन ही हो पाये थे। वह एकदम अशुद्ध स्थिति में थी। तो वहाँ पति आया और बड़े प्रेम से उस स्त्री के पास आकर उसकी गड़बड़ हालत देखकर रोने लगा। तो वहाँ स्त्री बोली—आप क्यों रो रहे? आपका नुकसान क्या? हमारी तो इधर लाश भी न उठने पायगी कि उधर तुम्हारी शादी सम्बंध की बात तय हो जायगी। तो वह पुरुष बोला—मैं अब आगे कभी शादी नहीं करूंगा। तो फिर स्त्री बोली—यदि शादी नहीं करोगे तो जो तुम्हारी पहली स्त्री के ये दो बच्चे हैं उनकी परवरिश कौन करेगा? वे तो लावारिस बन जायेंगे? तो फिर उस पुरुष ने कहा—मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब शादी नहीं करूंगा?... अच्छा तो यहाँ हम हैं आप हैं और साक्षी रूप में भगवान हैं, उन भगवान को अपना साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा लो कि अब शादी नहीं करूंगा। और इस मरण समय में तुम मेरे लिए आज्ञा करो कि मैं किसको क्या दान दूँ? तुम जो कहोगी वह हम दान करने को तैयार हैं, तो फिर स्त्री बोली—हम जो चाहते हैं क्या आप उसे दे सकेंगे?... हां-हां अवश्य देंगे, बोलो क्या चाहती हो?... मैं यह चाहती हूँ कि मेरे पास से आप दूर हो जाओ, अब आप न तो मेरे पास आना और न किसी को आने देना, मैं तो आप से यह चाहती हूँ। अब वचनबद्ध तो था ही सो वह वहाँ से चला गया और किसी को उसके पास आने भी न दिया। इधर उस स्त्री ने क्या किया कि एक भींट के सहारे टिक गई, अन्न जल औषधि सबका त्याग कर के सल्लेखना ले लिया और समाधिमरण कर गई। अब भला बताओ—यदि कोई कहे कि उस अशुद्ध दशा में तो उसके

सूतक पातक चल रहे थे, कैसे उसने सल्लेखना धारण किया? सो ऐसा कहना ठीक नहीं। मानो उस अशुद्ध दशा में वह सल्लेखना धारण न करती और मरण करके कुगति में जाती तब तो उसका बड़ा अनर्थ था। इसलिए चाहे कोई शुद्ध स्थिति में हो या अशुद्ध स्थिति में हो, आत्मस्मरण करना तो उसका भला ही है। हाँ अशुद्ध दशा में पूजा, पाठ, अभिषेक, पात्रदान आदि कार्यों की मनाही है मगर स्वरूपस्मरण करने, त्याग करने आदि की मनाही किसी भी स्थिति में नहीं है।

सल्लेखना में धर्म के सम्भूतिस्थान का आलम्बन—जिसे कहते हैं धर्म वह धर्म किसी मंदिर में बैठकर भी न मिलेगा। और कहीं शौच जाते समय वहाँ भी धर्म मिल जाय। धर्म नाम है आत्मा की वीतराग परिणति का। मंदिर एक साधन है। यहाँ आकर प्रभु के गुणस्मरण करें, वीतरागता का आदर करें, और वीतराग होने की भावना करें। और अगर कोई उद्घट हो, अधमी हो, कषायवान हो और मंदिर में ही बैठा है तो क्या उसे धर्म मिल जायगा? धर्म है आत्मा की शुद्ध परिणति का नाम। तो जब यह श्रावक देखता है कि मेरे बड़ा कठिन रोग आया जिसमें कि बचना भी सम्भव नहीं है, तो वह अपने धर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना धारण करता है। देह से, कुटुम्ब से सबसे ममता तज दी। कुटुम्बीजनों को चाहिए कि जिसका मरणकाल आया है उसकी सम्हाल बनायें। जीवनभर जिसने सी पुत्रादिक की रक्षा की, उनका पालन पोषण किया, उनकी सब व्यवस्था की उसके सामने मरण समय में यदि वे ही स्त्री पुत्रादिक आकर रुदन मचायें तो बतावो वे उसके साथ न्याय कर रहे कि अन्याय? अरे एक दृष्टि से देखो तो अन्याय कर रहे। भला बताओ जो जिन्दगीभर जिनके लिए मरता रहा, जिनके लिए बड़े-बड़े पाप कार्य किए, न्याय अन्याय कुछ नहीं गिना उसे मरण समय में भी शान्ति से मरण नहीं करने देते, उसके पास पहुंचकर रो धोकर उसका परिणाम और भी अधिक बिगाड़ते हैं जिससे वह मरकर भ्रांति में जाता है, तो यह उसके लिए अनर्थ ही तो रहा। तो इस प्रकार से मरण समय में किसी के परिणाम बिगाड़ना यह परिजनों को उचित नहीं है। अरे समाधि मरण तो एक महोत्सव की चीज है, अगले भव में इसका कल्याण हो उसकी प्रक्रिया का यह अवसर है। तो यह श्रावक गृह कुटुम्ब आदिक से ममत्व तजता है, आहार आदिक का त्याग करता है। आहार आदिक के त्याग को भी महत्व क्यों दिया गया—सल्लेखना के लिए। तो प्रथम बात तो यह है कि आहार आदि के सम्बंध का राग छूट जाय विकल्प छूट जाय। दूसरी बात यह है कि मरणकाल में अत्यन्त रुग्ण अवस्था में आहारपान करना कष्ट बढ़ाने वाला होता है। वैसे ही जीवन में अच्छी हालत में भी कोई अधिक खा ले, गरिष्ठ खाये तो दो चार घंटे उसे भी लेटना पड़ता है। पर जहाँ शरीर इतनी शिथिल अवस्था में है, बुढ़ापा है, रोग है वहाँ आहार का त्याग करना लाभदायक है। आहार का त्याग करना उसके खुद के लिए लाभकारी है, शारीरिक आराम के लिए भी आहार आदिक का त्याग करना आवश्यक हो जाता है। सो धर्म के लिए भी यह ही बात है।

मरणसमय में श्रावक के ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि—यह श्रावक ऐसे कठिन रोग के समय जहाँ जानता कि यह देह नष्ट होने वाला है तो सल्लेखना पूर्वक देह को त्यागता है उसका उस समय यह यत्न रहता है कि मेरा स्वभाव दर्शनज्ञान चारित्र है। तो यह स्वभाव मेरा न मिटे, इसका विकास मेरे में रहे और ऐसे अपने अन्तःस्वरूप की भावना सहित मरण करूं, यह उस श्रावक का लक्षण है। देखिये मरण के समय में जिसकी धारा

मोह की ओर लग जाय वह बड़े कठिन संक्षेप से मरता है और जिसकी विचारधारा कुछ धर्म की ओर लग जाय तो उस समय उसे बड़ी अधिक विरक्ति रहती है। मरण समय में ज्ञान का बढ़ना, वैराग्य का बढ़ना यह सुगम हो जाता है। जैसे किसी को फांसी का हुक्म दिया गया और फांसी वाले से पूछा जाय कि बोल तुझे कौन सी मिठाई खाना पसंद है, जो मांगेगा वह खिलायी जायगी। तो क्या वह कोई मिठाई खाने की इच्छा करेगा? अरे वह जानता है कि अभी कुछ ही देर बाद मैं तो मर ही रहा हूँ, तो उसकी इस ओर बुद्धि नहीं लगती। और यह जो स्वयं मर रहा है तो मरण समय में क्या उसे यह रुचेगा कि मैं बच्चों को खिला लूँ उनसे थोड़ा प्यार कर लूँ? हां कोई-कोई मूर्ख ऐसे भी होते जो कि फांसी के समय में रसगुल्ले भी खाने को मांग सकते या मरते समय भी यह कह सकते कि अमुक बच्चे को बुलाकर दिखा दो, मेरी छाती ठंडी हो जायगी। यों मूर्ख लोग तो कह सकते, मगर विवेकी पुरुष को उस स्थिति में ज्ञान और वैराग्य बढ़ता है।

बाह्य इन्द्रियों की बेहोशी के अवसर में अन्तः चेतना की संभवता—जिसने जीवन में ज्ञानसाधना की, वह कदाचित बेहोश हो जाय तो लोग भले ही समझें कि यह बेहोश हो गया, इसकी हालत खराब है पर कुछ पता नहीं कि बेहोशी में आत्मसाधना को और सहयोग मिलता है। अगर होश हो तो एक बार बाहरी चीजें देखने का भी विकल्प बढ़े, पर बेहोशी तो इन इन्द्रियों की है। वह बाहरी चीजें नहीं देख सकता किन्तु जिसके ज्ञान की धारा है वह भीतर में ज्ञानानुभव कर रहा है। मुझे इस सम्बन्ध में ऐसा निश्चय कैसे हुआ कि हम एक बार ब्रह्मचारी छोटे लाल के साथ गोहद से मऊ जा रहे थे तो आहार के बाद बड़ी जल्दी चले, १४-१५ मील तक चले तो रास्ते में एक जगह ब्रह्मचारी छोटेलाल जी का मकान पड़ता था, बस वहीं ठहर गए। वह छोटा सा गांव था, दूसरे हम थके हुए भी बहुत थे जाकर सामायिक किया और सामायिक करके लेट गए, जल्दी ही नींद आने लगी, उस दिन प्रवचन नहीं कर सके। उस नींद के बीच में ही ब्रह्मचारी छोटेलाल जी की पुत्र बहुवें वगैरह भी आयीं, वे लोग आपस में कुछ बातचीत भी करते रहे, पर हमें पता नहीं कि क्या बातचीत करते रहे धीरे-धीरे। हम वहाँ सो गए। उस सोते हुए के बीच में ही ब्रह्ममुहूर्त में एक स्वप्न आया कि हम सामायिक कर रहे हैं, उस सामायिक के बीच में इस प्रकार का ध्यान बना कि हम स्वानुभव का प्रयास कर रहे हैं, उसी अवसर पर दो देवियां सामने आकर अगल बगल बैठी हमारे प्रति कुछ प्रशंसा भरे शब्दों में स्तुति कर रही हैं। हमारा ध्यान स्वानुभव के कार्य में और भी अधिक बढ़ता जा रहा था। स्तुति की धीमीसी आवाज सुनाई पड़ रही थी, हम स्व की ओर लीन हो रहे थे देखिये यह सब स्वप्न में बीती बात कह रहे। यह स्थिति कुछ देर रही पश्चात् नींद खुल गई तो उस स्थिति में मैं क्या देखता हूँ कि वहाँ कहीं कुछ नहीं है, न देवियां न उनका गानतान। मैं उस समय यह अनुभव कर रहा था कि वह मेरी स्वानुभव की स्थिति थी। अब मेरे मन में एक भावना जगी कि यह नींद क्यों खुल गई, यदि वैसा ही स्वप्न में कुछ समय और चलता रहता तो कितना अच्छा होता। तो देखिये उस सोते हुए की स्थिति में भी स्वानुभव की बात देखने को मिली, तभी से हम को तो ऐसा निश्चय हो गया कि इस देह की चाहे कैसी ही अपवित्र स्थिति हो, बेहोशी हालत ही क्यों न हो पर वहाँ अपने परिणाम सुधारने का बड़ा मौका मिलता है। उस स्थिति में भी इस देह का भी ममत्व छोड़कर रत्नत्रय धर्म की आराधना की जा सकती है।

सल्लेखना में रत्नत्रय धर्म की रक्षा का उद्यम—देखिये यह देह विनश्वर है । कोटि यत्न करने पर भी यह सदा न रहेगी । और फिर यह देह तो हड्डी चाम का पिण्ड है जिसे लोग थोड़ी देर में जला देंगे और जिसे कहते हैं कपालक्रिया याने मुर्दा की खोपड़ी फोड़ना उस जलाने के प्रसंग में कुटुम्बीजनों के किसी के हाथ से बांस से खोपड़ी में मार लगाई जाती है थोड़ा जलने के बाद ताकि उसमें भी दरार पड़ जाय और अच्छे प्रकार जल जाय । ये सब बातें होती हैं इस देह की । उस देह से क्या ममत्व करना इस देह में ममत्व करने का फल है संसार में परिम्ब्रमण । अब तक जन्ममरण करते चले आये हैं । समाधितंत्र में एक जगह बताया है कि देख तुझे देह बराबर मिलते रहेंगे, टोटा न रहेगा, और अमर देह न चाहिए तो उसका सीधा तरीका यह है कि तू इस देह के स्वरूप को और अपने स्वरूप को सही-सही जानकर इस देह से ममत्व न कर और अपने सहज चैतन्यस्वरूप में आत्मत्व का अनुभव बना कि मैं यह हूँ, यह कुञ्जी है देह से छुटकारा पाने की । तो यह ब्रती श्रावक सल्लेखना के काल में चिन्तन कर रहा कि देह तो अनन्त धारण किये हैं और छोड़े हैं, पर रत्नत्रय धर्म आज तक प्राप्त नहीं हुआ उसकी निशानी क्या है कि अब तक संसार में रुल रहे । सो अब मैं रत्नत्रय धर्म की रक्षा करूँगा, इस देह की नहीं । किसी का घर जलने लगता है तो वह कोशिश यह करता है कि घर तो जल जाय पर घर के भीतर रखे हुए जो कीमती रत्न हैं उन्हें उठा लें, ऐसे प्रसंग में वह अग्नि बुझाने का मुख्य काम न सोचेगा । मुख्य काम सोचेगा अपने कीमती रत्नों को वहाँ से हटा लेने का । उस समय उसका निर्णय बनता है कि घर जल रहा तो जल जाने दो, इसमें तो १०-२० हजार का ही नुकसान होगा, मगर लाखों की कीमत के जो रत्न रखे हैं उन्हें तो निकाल लूँ । तो ऐसे ही जब यह देह मिट रहा है, मरण हो रहा है तो यह सोचता है कि देह मिटने दो, पर अपना जो रत्नत्रय धर्म है उस धर्म की तो रक्षा कर लूँ । यह धर्म तो मेरे साथ आगे भी रहेगा पर यह देह तो आगे नहीं रहने का । तो ऐसे कठिन रोग के प्रसंग में यह ब्रती श्रावक अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की रक्षा के लिए सर्व कुछ परित्याग कर देता है ।

मरणसमय धर्मदृष्टि न करने की अक्षम्य चूक—यह देह तो संसार में रुलाने वाला है । जो देह की ममता रखेगा वह संसार में रुलेगा और यह रत्नत्रय धर्म मुझे संसार के सुखों से छुटकारा दिलायगा, सिद्ध अवस्था प्राप्त करायेगा और सदा के लिए आत्मा पवित्र हो जायगा । तब देह की परवाह करना कि अपने रत्नत्रय धर्म की रक्षा करना? यह श्रावक उस काल में अपने रत्नत्रय धर्म की रक्षा करता है । और धर्म कहीं बाहर है क्या? धर्म आत्मा का स्वरूप है, आत्मा में ही लखना है, उपाय भी स्वाधीन है, तत्व भी स्वाधीन है, क्रिया भी स्वाधीन है । जब यह जीव तीन चीजों का पिण्डोला है—शरीर, कर्म और जीव और शरीर में अनन्तानन्त परमाणु हैं, कर्म में, भी अनन्तानन्त परमाणु हैं, तो प्रत्येक परमाणु की ओर इस जीव की सत्ता जुदी-जुदी है । एक में ये मिल नहीं गए, स्वरूपतः संयोग है, बंधन है मगर किसी का स्वरूप किसी दूसरे रूप हो जाय ऐसा त्रिकाल सम्भव नहीं । तो जो मैं हूँ, स्वयं सत् हूँ । अपने स्वरूप से हूँ तो उस ही वास्तविक सत् को तो निरखना है कि मैं अपने आप अपने सत्त्व के कारण स्वयं में क्या हूँ । यह तत्त्व जिसमें आत्मा की धुन है और यह ही जीवन का लक्ष्य है, उसको मिल जाता है और जिसके जीवन में लोभकषाय है, बाह्य वस्तुओं की तृष्णा और संग्रह करना और इतना बढ़ जाना यह ही जिसका ध्येय है उसको यह अंतस्तत्व कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।

थोड़ा विवेक रखना चाहिए कि बाह्य पदार्थ जिनकी सत्ता भिन्न है उनके लगाव से, ममत्व से, मोह से मेरी बरबादी है, इस समय भी बरबादी है, आगे भी बरबादी है। मुझे तो अपने आप में अपने स्वरूप की आगधना चाहिए, यह ही एक मुख्य लक्ष्म रहता है व्रती श्रावक का, जिसने कि इस मरण के अवसर पर सल्लेखना व्रत धारण किया है। सारे जीवनभर जो व्रत तप धर्म में आचरण किया है, उनको सफल करने का यह ही तो अवसर है कि मरण समय में चू के तो वह एक बड़ी चूक कहलाती। तब ही तो लोग कहते हैं 'अन्तमति, सो गति', मरण समय में जैसी बुद्धि होती है वैसी गति होती है। और होता भी यही है। जिस गति में जाने को है उसी के अनुरूप उसकी बुद्धि बन जाती है। तो इस सल्लेखना के प्रकरण में यह ध्यान किया गया है कि व्रती श्रावक समग्र व्रतों के पालन का अब फल पायगा। इस अवसर में सल्लेखना व्रत करने से ही उसका कल्याण है।

श्लोक 123

अंतः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।

तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं ॥१२३॥

:अतक्रिया आधार, सो तप-फल सर्वदर्शी प्रशंसै ।

अतः सामर्थ्यं प्रमाण, समाधिमरणं प्रयत्नं योग्य ॥

अन्तः: क्रिया से तपश्चरण की सफलता—जीवन में जितने भी व्रत, तप, संयम किया है और इस सदाचार के फल में विशुद्धि प्राप्त की है तो उसकी सफलता अन्त में समाधिमरण से होती है। अन्तः क्रिया कहते हैं समाधिमरण को। समाधिमरण में रागद्वेष दूर हों, अपने आत्मा के सहज स्वभाव की दृष्टि बने, इसका पुरुषार्थ चलता है। सो जिन्होंने इस अन्तः क्रिया को किया उन्होंने ही जीवन में किए हुए व्रत, तप का फल प्राप्त किया। ऐसे सर्वज्ञ भगवान में भव्य आत्मा की प्रशंसा रहती है। इस कारण जितने भी विभव हैं समस्त विभव के अनुसार अर्थात् जो भी शक्ति विकास पाया है उस पूरी शक्ति विकास के अनुकूल समाधिमरण का प्रयत्न करना चाहिए। विभव क्या-क्या किया? समाधिमरण करने वाले श्रावक व मुनि ने प्रथम तो यह शास्त्रों का ज्ञान, तत्त्वज्ञान, नयविज्ञान, सर्व परिचय पूर्वक जिसने अपने आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट परखा है वैभव यह ही है वास्तविक। बाह्य पौद्गलिक जड़ का वैभव यह कुछ वैभव नहीं है। आत्मा के काम आत्मा की बुद्धि, आत्मतत्व का परिचय ये काम आते हैं। कितने भी संकट हों जीवन में, जहाँ यह ध्यान में आया कि बाहर में बाहरी पदार्थों का परिणमन होता रहता है। यहाँ तो इस ही के गुणों का परिणमन हो पाता है। बाहर से संकट नहीं आते। संकट तो अपनी कल्पना का नाम है। भला जगत में कौन जीव बुरा है, कौन जीव भला है?

अन्तः: क्रिया का भाव—सभी जीव अपनी सत्ता लिए हुए हैं, जैसे मेरे परिणमन से मेरा परिणमन बनता है ऐसे ही दूसरे जीवों के परिणमन से उनका परिणाम बनता है। वे मेरे लिए बुरे कैसे? वे अपने लिए अपना काम कर रहे हैं, मेरा कुछ कर ही नहीं सकते। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। मैं अपने लिए अपना काम कर रहा हूँ। मैं दूसरे के लिए कुछ कर ही नहीं सकता। ऐसा स्वपरविभाग इस ज्ञानी श्रावक व मुनि के हुआ है

जिसके कारण अब वह संकट नहीं मानता । जब बड़े-बड़े संकट सहने की वार्ता सुनते हैं कि बड़े-बड़े मुनियों ने दूसरे का उपर्युक्त सहा, शेरनी ने सुकुमार के अंग चीथा और वे विचलित न हुए । बहुत से मुनि घानी में पेले गए पर वे विचलित न हुए । आग लगा दी किसी बैरी ने पर वे मुनि विचलित न हुए । ये सब बातें सुनकर अचरज होता है पर अपने आप में एक अंदाज बनाइये—जैसे प्रकट भिन्न धन वैभव आदिक में यह बुद्धि बन जाती कि इन बाह्य पदार्थों के परिणमन से यहाँ कुछ भी बिगाड़ नहीं होता तो इस दृढ़ निश्चय के कारण बाहर में कुछ होता रहे पर आप संकट नहीं मानते ऐसे ही विशेष बड़े मुनिजनों ने इस देह के प्रति अन्तर्बुद्धि कर ली है, स्वरूपास्तित्व का ऐसा दृढ़ अभ्यास बन गया है कि उन्हें यह देह भी अत्यन्त पृथक् दिखता है । हो रहा है उपद्रव देह पर, इसका ज्ञाताद्रष्टा बन रहा है, पर विचलित नहीं होता । इस जीवन में और साधना करना ही क्या है? धर्म के नाम पर तो बहुतसी बातें होती हैं पर जो धर्म पालन का मूल उद्देश्य है वह ध्यान में न रहे तो उन सारी क्रियाओं का क्या परिणाम है? प्रत्येक धर्म के काम में यह बात दृढ़ बनाना है कि मेरे स्वरूप से अतिरिक्त जो कुछ भी परपदार्थ हैं, चेतन हो, अचेतन हों उनके परिणमन का प्रभाव उन्हीं तक ही है, मुझ में नहीं आता । इसकी आस्था बनाना है, इसको प्रायोगिक रूप देना है, यही वास्तविक धर्मसाधना है, बाकी तो जो कुछ भी किया जाता है देवदर्शन, स्वाध्याय, सामायिक, सत्संग वे सब इस ही अंतस्तत्व के अभ्यास के लिए हैं, इसे कहते हैं अंतः क्रिया । अपने आपके स्वरूप में प्रदेश में अपने आपकी विशुद्ध परिणति जगना यह है अंतः क्रिया ।

ज्ञानी आत्मा पर स्वरूप दर्शन के कारण बाह्यपरिणतियों का अप्रभाव—यदि कोई एक बार ऐसा ही सोच ले कि मानों मैं इस मनुष्यभव में न होता, किसी अन्य पर्याय में होता, क्या अन्य पर्यायों में थे नहीं? यदि मैं किसी अन्य पर्याय में होता, कीड़ामकोड़ा, पशुपक्षी कुछ भी होता तब मेरे लिए यहाँ का दृश्यमान समागम तो कुछ भी न था । अब मनुष्यपर्याय में आने पर यह मान लें कि ये दृश्यमान पदार्थ मेरे लिए कुछ नहीं हैं, कैसा आपने आप में दृढ़ बनना पड़ता है धर्मपालन के लिए । मैं अकिञ्चन हूँ, धर्मपालन की दिशा में मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा, परिचय, नाम इनका कुछ महत्व नहीं है । ये कुछ भी नहीं है । चाहे लोगों की दृष्टि में मैं मूर्ख कहलाऊं, किन्हीं भी शब्दों में लोगों के द्वारा पुकारा जाऊं फिर भी वह उन लोगों का परिणमन है । उनकी योग्यता के अनुसार उनका वह परिणमन है । मैं तो अपने सहजस्वरूप को देखूँ और इस ही में प्रसन्न रहूँ, यही मेरा परिणमन है और बुद्धिमानी का काम है । जो मरण के सम्मुख है, कुछ ही समय में शरीर को छोड़ देने वाला है, वह ज्ञानी पुरुष क्या बाहरी बातों में उपयोग फंसायेगा, अपने की अकिञ्चन अनुभव करेगा । मैं अपने आप में पूर्ण स्वच्छ हूँ । बाहरी समस्त पदार्थों में से अकिञ्चन हूँ । यह तो सब बड़ी विपत्ति थी जो कुटुम्बीजनों में, मित्रजनों में एक स्नेह बनाया और जिस प्रेम के आगे दूसरे जीवों को तुच्छ समझा, गैर समझा, ऐसी जो उसने अपने परिणाम में कवायद की यह उसके ऊपर विपदा थी । यह सब कुछ करने योग्य न था, यह ध्यान जाता ज्ञानी पुरुष का अब इस मरणसमय में । जो ध्यान मरण समय में होता है वह ध्यान जीवन में भी सदा करना चाहिए, पर जीवन में चूँकि अन्य काम भी पड़े हुए हैं इसलिए यथाशक्ति थोड़ा-थोड़ा चलता है किन्तु मरण समय

में तो वह अपने को रिटायर्ड अनुभव कर रहा । सर्व कामों से मैं निवृत्त हूँ । एक शब्द दिया है वैयावृत्य का । वैयावृत्य करना साधुजनों का कार्य है, उस वैयावृत्य का अर्थ क्या है? व्यावृत पुरुष का काम । व्यावृत कहते हैं रिटायर्ड को । सर्वद्रव्यों से जो निवृत्त हो गया है उसे अब जगत के दंदफंद मायाजाल वचनालाप, इनसे क्या प्रयोजन है? मरणसमय में वह अपने को ऐसा अनुभव करता है कि अब मेरा क्या प्रयोजन रहा किसी से ।

समाधिमरण का महत्त्व—परिणामों में अत्यन्त विशुद्धि बने, पवित्रता जगे उसका साधन है मरण काल । जिसको कुबुद्धि है उसको सबसे बुरा है मरणकाल । जिसको सुबुद्धि है उसके कल्याण का अवसर है मरणकाल । जन्म से मरण का महत्त्व अधिक है । जन्म के बाद मोक्ष नहीं है मरण के बाद मोक्ष है । उस मरण को नाम है निर्वाण अथवा पंडित पंडित मरण । आयु का क्षय ही तो हुआ है । मरण के बाद कल्याण है, जन्म के बाद कल्याण नहीं है अतएव मरण का महत्त्व जन्म से अधिक है । लोग शान्त आनन्दमय ही तो होना चाहते हैं । जिस विधि से आनन्द मिले उस विधि में क्या संकोच? अपने को एकाकी केवल अपने स्वरूपमात्र निरखने में आनन्द जगता है । तौ बाहरी पदार्थों में बुद्धि आने से कष्ट होता है । कर्म का उदय विचित्र है सम्हले । सम्हले मनुष्य भी कर्मविपाकवश समय-समय पर क्षुब्धि होते रहते हैं । बड़े-बड़े मुनिराज भी सर्व कुछ त्याग करने के बाद भी इन विकल्पों से छूट नहीं पाते, फिर भी जो भीतर आस्था है और बारबार इस आनन्दमय सहज स्वरूप पर दृष्टि जाती है उसके प्रताप से संकटों को सहकर भी पार हो जाते हैं, किन्तु इसके लिए चाहिए विशिष्ट ज्ञानबल, अन्तःक्रिया । तो सर्वज्ञ वीतराग देव ने कहा है कि तपश्चरण आदिक का फल तो समाधिमरण में है । समता सहित उपयोग होना यह है सल्लेखना । यदि अन्त में परिणाम बिगड़ा तो जीवनभर किया हुआ ब्रत तप संयम आचरण ये सब फीके हो जाते हैं ।

सम्यक्त्व न होने पर भी तपश्चरण के प्रभाव का दिग्दर्शन—तप का फल लोक में तो सुगति में उत्पन्न होना है । मिथ्यादृष्टि भी तप करें तो तपश्चरण के प्रभाव से नवग्रैवेयक में जन्म होता है । उत्कृष्ट से उत्कृष्ट इतनी उन्नति हो सकती है मिथ्यादृष्टि की तपश्चरण के प्रभाव से, मगर होता व्यवहाररूप से जैनदर्शन अंगीकार करके और निर्ग्रन्थ मुनि होकर भीतरी भाव से निष्कपट तपश्चरण करने से । इसमें भी बहुत ऊँची साधना चलती है, किन्तु सिर्फ एक भीतर की कुञ्जी नहीं सुलझ पायी जैसे स्नान करने की बावड़ी आदिक पर एक चादर ही बिछा दो थोड़ा ऊपर तो उस ही आड़ की वजह से स्नान नहीं कर सकते ऐसे ही बहुत ज्ञान हो जाने पर भी इस चैतन्य समुद्र के ऊपर भ्रम की एक चादर पड़ी है । वह कोई मोटी पिण्डरूप नहीं है, काल्पनिक उस भ्रम की चादर ओढ़े रहने से यह जीव अपने इस ज्ञानसरोवर में स्नान नहीं कर पाता, तड़फता रहता है, उस तपश्चरण का इतना ऊँचा प्रभाव है कि नवग्रैवयक तक उत्पन्न हो ले पर उसका फल क्या मिला? रहा वह ३०-३१ सागर तक अहमिन्द्र, जिसमें अरब खरब वर्ष नहीं, कल्पना भी नहीं हो सकती, इतने असंख्याते वर्ष तक वह अहमिन्द्र रह रहा मगर वे असंख्याते वर्ष भी अनन्त काल के सामने बिन्दु बराबर भी नहीं हैं । वहाँ से चलकर फिर यहाँ मनुष्य होना पड़ता है, और सम्यक्त्व न होने पर तिर्यज्च आदिक योनियों में भटकना पड़ता है ।

सहजात्मतत्त्व की भावना से आत्मोद्धार—यदि सम्यक्त्वसहित जीवन होता तो यहाँ भी आनन्द होता और

निकटकाल में सर्वसकटों से छुटकारा मिल जाता । गुणीजनों में प्रमोद हो, हर्ष हो ऐसा अपना परिणाम बनाइये, बढ़ाइये, यह है वह प्रारम्भिक उपाय कि जिस उपाय के बल से हम आगे बढ़कर आत्मकल्याण करने लगेंगे, जगत की भटकना से बच लेंगे । और प्रयत्न कीजिए कि मेरे को तत्त्वज्ञान का लाभ हो । बाहरी संग प्रसंग अच्छे हों बुरे हों, मनपसंद हों, मन को अनिष्ट हों, उन सब मायाजाल में सिर रगड़ने से लाभ कुछ न मिलेगा, केवल पाप कलंक ही हाथ रहता है और एक आत्मस्वरूप का परिचय, बोध, दर्शन इनकी अभिमुखता होने से अपने आप में विशुद्धि जगती है । आनन्द जगता है, शान्ति मिलती है और ऐसा सिलसिला बन जाता कि जितने दिन संसार में रहना है उतने समय भी यह शान्त रहेगा, धार्मिक वातावरण में रहेगा और जल्दी ही निर्वाण पा लेगा । तो बाहर की बातों में क्रिया में समय व्यर्थ गया, बड़ी-बड़ी कल्पनायें किं—मेरे लड़के अच्छे हो गए, ऐसे पढ़ लिख गए, यह काम कर रहे, अरे तुम्हारा क्या है वहां? जैसे जगत के अन्य जीव हैं, वैसे ही ये भी जीव है अत्यन्त भिन्न । इस भव में ही आपकी जिम्मेदारी नहीं ले सकता कोई, तो फिर परम्भ की कोई क्या जिम्मेदारी लेगा? मोह बहुत कठिन विपत्ति है? मोह विपत्ति से बचना भी बहुत सुगम है, यदि मोहविनाश के उपायभूत अन्तस्तत्व की धुन के लिए कमर कस लें तो, अन्यथा मोह के वश होकर संसार में रुलना ही रुलना रहेगा । साधर्मीजनों में, गुणीजनों में प्रमोद होना, प्रतीति होना यह उन्नति का सबसे प्रारम्भिक उपाय है । यदि यह बात हम में न बन सके तो हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं । रत्नत्रय का प्रेम उसके ही सम्भव है जो अपने में अपने स्वरूप की आराधना करता है और उसका प्रयोग कर कुछ पाता है ।

सर्वमैत्रीभाव आत्मतत्त्वभक्ति का महत्त्व—जिस अन्तः क्रिया का साधन हमें मरण समय में चाहिए वह अन्तः क्रिया का अभ्यास हमारा अभी से ही जीवन में हो । अपने जीवन को इतना ही बना लें पहले कि, मेरे द्वारा किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचे, यह बात तब सम्भव है जब अपने में मान कषाय न रहेगी । मानकषाय के रहने पर यह बात मुश्किल है कि मेरी प्रवृत्ति से किसी को कष्ट न पहुंचे । कषाय जगेगी, उसमें प्रवृत्ति बन जायगी । इससे आत्मरक्षा इसी में है कि मैं अपने में स्वरूप को तो देखूँ जिस स्वरूप में कोई रूप नहीं, रस नहीं। दुनिया मुझे जाने कैसे, देखे कैसे, दुनिया के लिए मैं कुछ नहीं, मैं अपने लिए तो हूँ क्योंकि मैं अपने को अनुभवता हूँ, पर यह मैं दूसरे के लिए कुछ नहीं हूँ। दूसरा मेरे लिए कुछ नहीं है । भले ही साधर्मी प्रेम के कारण बातें होती हैं, परस्पर सहयोग होता है, पर वस्तुस्वरूप यह बतला रहा है कि जिस वस्तु का जो परिणमन है वह उसमें ही समाप्त होता है, उससे बाहर नहीं । सल्लेखना में यह व्रती चिन्तन कर रहा है कि अहो अनन्त काल इन विषयकषायों में ही वृत्ति रहकर व्यतीत हुआ । अनन्त जन्म पाये, अनन्तानन्त मरण हुए, पर एक यह रत्नत्रय धर्म प्राप्त नहीं हुआ। अपना जीवन सफल करना है, अपने आत्मा का उद्धार करना है तो आत्मा को जानें, आत्मा के सहजस्वरूप में अपना अनुभव बनावें और इस ही में मग्न होने का लक्ष्य बनायें । बाहर में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करनी पड़े तो शुद्ध हृदय से व्यवहार बने, कोई मेरा बैरी नहीं है, कोई मेरा विरोधी नहीं है, कोई मेरा अहित करने वाला नहीं है । सर्वजीव मेरे स्वरूप के समान हैं, सर्वजीवों के उस भीतरी भाव पर दृष्टि जाय तो इस नाते से सब आपके हैं, सर्व जीवों में मैत्री भाव

हो, गुणी जनों में प्रमोद भाव हो । देखिये ये दो बातें अतीव आवश्यक हैं अन्यथा आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती । तो जीवन में ये दो आधार शिलायें बना लें । ऐसा, किसी भी प्रसंग में चाहे खुद दुःखी हो लें, आपका दिल आपके पास है, ज्ञानबल से अपना दुःख दूर कर लेंगे, पर कोई चेष्टा ऐसी न बने कि मेरे द्वारा किसी को दुख पहुंचे तो वह बात इतनी बढ़ती है अपनी ओर से, दूसरे की ओर से हम ही खुद उल्ज्जन में पड़ जाते हैं । इससे आत्मभक्ति करना प्रभु भक्ति करना, सबका भला सोचना इस प्रकार का जीवन होना चाहिए ।

अन्त में सल्लेखना पाये बिना जीवनभर किये गए तपश्चरण की व्यर्थता का वृष्टान्तपूर्वक समर्थन—व्रतीश्रावक मरण के अवसर पर चिन्तन कर रहा है । तपश्चरण का फल अहमिन्द्र होना, चक्री होना, अनेक पद्धारी होना है, पर समाधिमरण हो तो धर्म की धारा बनी रहेगी और संसार संकटों से पार होने का अवसर मिल जायगा, इसलिए स्वभाव की आराधना सहित मेरे क्षण व्यतीत हों, निशंक निर्भय रहना हो । निशंक निर्भय रहते हुए मेरा मरण हो जिससे जिसकी दृष्टि लगाकर यहां से जाऊं तो नये भव में भी उस दृष्टि का पात्र बना रहूँ । ऐसा यह श्रावक सल्लेखना व्रत धारण करने वाला अपने परिणामों की विशुद्ध रखता है । यदि समाधिमरण न बने तो उसकी गति ऐसी है जैसे कि किसीने परदेश जाकर बहुत द्रव्य कमाया और सारा द्रव्य साथ लेकर चला और नगर के किनारे पहुंचते ही चोरों ने लूट लिया तो उसका द्रव्य कमाना किस काम का रहा? ऐसे ही सारे जीवनभर व्रत तप कर के परिणामों की विशुद्ध बनाया और अन्त में मरण समय पर वह सारा परिणाम लुट गया, परिणाम खोटा कर लिया, विषयकषायों में उपयोग लग गया तो वह करीब व्यर्थ सा ही है । यह सब निर्णय किए हुए है यह व्रती श्रावक सो अन्त समय में यह अपने को बहुत सावधान रख रहा । अब सल्लेखना करने वाला व्यक्ति प्रारम्भ में क्या काम करता है यह बात बतलाते हैं ।

श्लोक 124

स्नेहं वैरं संङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षांत्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥
स्नेहं बैर और संग, परिग्रह त्याग शुद्ध मन हो करके।
क्षमा स्वजन-परिजन प्रति, करै करावै प्रियवचनों से ॥

सल्लेखना के समय व्रतीश्रावक का निर्वैर व निःस्नेह होने के लिए चिन्तन—इस वर्तमान भाव को छोड़कर जाने की तैयारी रखने वाला यह श्रावक यहाँ के सर्व समागमों से विरक्त होता है, स्नेह को, बैर को, परिग्रह को त्यागकर यह शुद्ध हृदय वाला श्रावक दूसरों को क्षमा कर के दूसरों से क्षमा लेकर यह अपने को निर्मल बना रहा है । अपने कुटुम्बीजनों से या अन्य जनों से सबके साथ यह स्नेह बैर को छोड़ देता है । यह विचार करता है कि यह मैं इस पर्याय में आया, ऐसा ही कर्मोदय था, इस पर्याय को भुगतना पड़ा, अब इस मनुष्य देह का उपकार करने वाला जो पदार्थ है, भोजन धन आदिक जो भी इस शरीरं के पोषण में मददगार हैं अथवा इस शरीर के भोगोपभोग के साधन हैं उन साधनों को जिन्होंने मिला दिया उन्हें तो इष्ट मित्र मान रहे और

जिन्होंने इन साधनों में बाधा डाली उन्हें गैर मान रहे, इस पर्याय से मेरा क्या सम्बन्ध? यह तो मैं नहीं हूँ, पर बंधन है, और उस बंधन से इस पर्याय के उपकारक को मित्र मानता रहा और पर्याय का अपकार करने वाले को बैरी मानता रहा। सो मित्रजनों को देखकर मैं खुश रहता था, उनका समान करता था उनका पोषण करता था और जो इस पर्याय का अपकार करने वाले, द्रव्यादिक को नष्ट करने वाले लोग थे उनको मैं अपनी कल्पना से चारित्रमोह के कारण बैरी मानता रहा। अब जिस पर्याय के पीछे मैं लोगों को बंधु और दुश्मन मानता रहा, जब यह पर्याय ही नष्ट होने वाली है तो अब मैं किससे मित्रता शत्रुता करूँ। यहाँ कौन मुझ को जानता है। इन लोगों को चाम दिखता है यह चाम पौद्गलिक है।

सल्लेखना के समय ब्रती श्रावक का क्षमापण—सल्लेखना ब्रतधारी श्रावक वस्तुस्वरूप सहित चिन्तन कर रहा है। अब सबसे क्षमा करना कराना यह ही उचित है ताकि अन्तिम विकल्प भी समाप्त हो और अपने आत्मा की आराधना में लग जाऊँ। सो जिन लोगों के प्रति कुछ बुरा सोचा था जो अपने अभिमान के कारण ही बिना कारण ही बैर करने वाले थे उन सभी को बुलाकर नम्र होकर क्षमा ग्रहण कराता है, मेरी जो भूलचूक हुई हो उसे आप क्षमा करें। आप तो सज्जन पुरुष हैं, मैं अज्ञ रहा, जो किसी प्रकार का कटु व्यवहार बन गया उस अपराध को क्षमा करें। देखिये जैसे जीवन में किसीने अपराध भी कर लिया, कुछ गलती भी कर लिया तो भी उसको ऐसा अभिमान रहता है कि मैं क्यों क्षमा मांगूँ। जीवन में प्रायः ऐसा चलता है, पर मरण के समय में नम्रता आ जाती है और वहाँ यह ऐंठ नहीं रहती कि मैं क्यों क्षमा मांगूँ? उन दोनों स्थितियों में फर्क है। जीवन में तो यह बात है कि मुझे आगे भी रहना है, जीवन तो चल ही रहा है। मरण में यह बात है कि कुछ समय बाद मेरा मरण हो ही रहा है फिर मैं किसके लिए ऐंठ बगराऊँ? यों अन्त समय में उसके परिणाम कोमल हो जाते हैं, सो जिसके प्रति कुछ भी कटु व्यवहार रहा या जिसने अपनी ही भूल से अभिमान के कारण मुझ से बैर माना उन सभी से यह क्षमा याचना करता है, आप मुझे क्षमा का दान कीजिए। यह श्रावक यदि किसी का कुछ धन धरती आदिक दबा लिया हो तो उसको बड़े प्रेम से विनय से कह कर वापिस कर देता है। मरण समय में यह भावना बन ही जाती है कि मैं मर ही रहा हूँ, धरा धन अमुक का कपट से कुछ अधिक लिया है तो यह मेरे क्या काम आने का है। मैं तो इस भव को छोड़कर जा ही रहा हूँ, उसके परिणामों में उदारता आ ही जाती है और जिसका जो कुछ धन आदिक कुछ हड्प कर लिया हो वह उसे पूरा वापिस कर देता है। मैंने दुष्टता से या छल से आपका इतना धन हड्प लिया था सो आप मुझे क्षमा करें और यह द्रव्य आप अपना लीजिए। मैंने उस समय कषाय में आकर दुराचार किया। मैं अन्तरङ्ग में पश्चात्ताप करता हूँ।

मरणकाल में कुछ भी विवेक होने पर परिणाम विशुद्धि की प्रधारा—मरण समय में कितनी ही बातें ऐसी होती हैं जिनसे परिणामों में उज्ज्वलता और निर्मलता आती है। कोई मनुष्य साल दो साल के लिए भी विदेश जाता है तो जिनके साथ कुछ अनुचित व्यवहार बने या गाली गलौच की बात बने तो उनसे भी क्षमा मांग ली जाती है। अब यह तो इस शरीर से सदा के लिए विदा हो रहा है और आगे का कुछ भरोसा नहीं कि मिलाप हो। भरोसा क्या, होगा ही नहीं मिलाप। और यदि मिलाप होगा तो दूसरे भेष में होगा। पता ही न रहेगा कि

हमारा और इसका कुछ सम्बंध था । तो ऐसे अवसर पर नम्रता आती है । और जिसका धन हरा हो उसका धन वापिस करता, बड़े विनय से प्रेम से वचन बोलता, क्षमायाचना करता । यह काम करके वह अब निर्विकल्प रहना चाह रहा है । किसी के प्रति कटुक व्यवहार कर लेना एक शल्य होता है । चाहे उस खोटी बात का दूसरे को पता नहीं मगर खुद को तो पता है जिसने खोटा भाव किया, चाहे वचन से और काय से कोई दुर्व्यवहार नहीं बना और किसीने नहीं जान पाया तो भी कुछ अपराध हुआ कि जो मन का मन में ही रह गया तो भी यह अपने मन की शल्य दूर करने के लिए दूसरे से अपना अपराध कहता है—मुझ से ऐसी गलती हुई है । आप बड़े सज्जन पुरुष हो, मेरे को क्षमा करो । ये सब क्रियायें क्यों करता है समाधिमरण वाला, ताकि कोई शल्य न रहे और बड़ी समाधि के साथ, समता के साथ इस देह का त्याग कर जाऊं ।

मरणकाल में हुई आत्मदृष्टिधारा का प्रताप—मरण समय में यदि आत्मदर्शन की धारा बन जायगी तो यह अगले जीवनभर काम देगा । जैसी दृष्टि लेकर जायगा वैसी ही दृष्टि में जमे रहकर शरीर को ग्रहण करेगा तो ऐसा ही योग बनेगा कि उसकी पात्रता रहेगी जीवन में । सो यह ब्रतीश्रावक सल्लेखना काल में अपने आपको स्वच्छ बनाकर जा रहा है । हमने बचपन में एक ऐसा खेल खेला था कि जैसे खिरनी पड़े की दो डाली ली, वे अन्दर पोली होती हैं, उनको चाकू से कलम की तरह बना लिया और फिर उन दोनों डंडों को चिपका लिया । ऊपर से कुछ मिट्टी लगा दिया । अब उसका एक डंडा घड़े में भरे हुए पानी में डाल दिया । पानी अभी नहीं निकल रहा, मगर एक बार बाहर निकले हुए डंडे को मुख से जरा चूस ले तो उससे पानी निकलना शुरू हो जाता है । धीरे-धीरे सारा घड़ा खाली हो जाता है । तो थोड़ीसी प्रक्रिया कर दी कोई पाव सेकेण्ड में फिर उसके बाद आगे कोई प्रक्रिया होती रहती है । तो ऐसे ही समझो कि मरणकाल में कितना सा समय है जिस समय जीव इस शरीर को छोड़कर जा रहा । सेकेण्ड का १०० वां हिस्सा भी न होगा उस समय में चूँकि आत्मा तो आत्मा ही है, ज्ञानस्वरूप है । यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करता हुआ निकले यह कितने बड़े ऊचे भवितव्य की बात है ।

मरणकाल में बाह्य पदार्थों से उपेक्षा होने की प्राकृतिकता—जिसको छोड़कर जा रहे उससे क्या मतलब है? जिनके बीच रह रहे थे उनसे क्या मतलब है? एक कोई अफसर भी जब उसका तबादला होता है तो जिस स्थान की छोड़कर जा रहा उस स्थान से विरक्त हो जाता । जब वहाँ से जा रहा तो अब यह आशा तो न रही कि इनसे अब कुछ मुझे पैसा मिलेगा । उसको एक सहज विरक्ति हो जाती है, वह है एक लौकिक ढंग की विरक्ति पर वहाँ चित्त नहीं रहता, वह जहाँ जाना है वहाँ उसका चित्त लग जाता है । चाहे अभी उस जगह पहुंचा नहीं मगर दिल की उमंग वह सब उस दूसरे क्षेत्र के लिए हो जाती है । तो ऐसे ही मरणकाल में सब कुछ छोड़कर जा रहा है न तो इस क्षेत्र से मोह रहता, न कुटुम्बीजनों से मोह रहता, न यश कीर्ति आदिक किसी बात में व्यामोह रहता । जिसके कुछ विवेक है उसकी यह चर्चा चल रही है । ऐसा मरण समय सबके विरक्ति की बात कहाँ होती? प्रायः प्राणी तो मरण, समय बहुत वेदना, मोह, मुग्धता रखते जैसे—मैंने इतना परिश्रम करके लोगों को आँखों में धूल डालकर इतना वैभव इकट्ठा कर डाला है, अब यह छूटा जा रहा है मुझ से, ऐसा चिन्तन कर प्रायः प्राणियों को बड़ा कष्ट होता है । मैंने कैसा पढ़ा लिखा कर योग्य बनाकर बच्चों

को विनयशील, आज्ञाकारी बना दिया । अब इनको छोड़ कर जा रहा हूँ... तो उसको बड़ा कष्ट होता है, मगर ये सब बेवकूफी भरी बातें हैं । जीवन में ही बड़ा सम्हलकर रहना था वहाँ भी गलती की । अब मरण समय में इतना व्यामोह किया जा रहा है तो यह बहुत बड़ी गलती है । फल इसका खोटा है, अनर्थक्रियाकारी है ।

सल्लेखनाधारक श्रावक का परिज्ञानों को सम्बोधन—यह श्रावक क्षमायाचना करते समय कह रहा है कि मैंने आपको बड़ा दुःख उपजाया । अपराध किया, सो जो मुझ से बन गया वह तो अब उल्टा आता नहीं वापिस । अब मैं क्या करूँ? आप मुझे क्षमा करें, इसके सिवाय और मैं क्या कर सकता हूँ । आप मुझे सरलभाव से क्षमा कीजियेगा । यों तो जिनसे बैर विरोध है या जिन्होंने मान रखा है उनकी बात कर रहा है । यह भी सोचता है कि ऐसी क्षमा याचना, यह परस्पर का सदव्यवहार मुझे जीवन में ही कर लेना था, पर इतने दिन तक कटुकता रही, मनमुटाव रहा, यह भी खोटी ही बात रही लेकिन जो बन गया गुजर गया उसका अब क्या किया जाय? अब तो यह ही उपाय है कि नम्र वचनों से क्षमा याचना करें कि दूसरे के चित्त में भी शल्य न रहे, मैं भी निःशल्य होऊँ । अब स्नेही जनों से वार्ता करते हैं, कुटुम्ब मित्र आदिक जिन जिनसे स्नेह किया उनसे कहता है यह सल्लेखना ब्रतधारी कि तुम हमारे सम्बंधी हो, स्नेही हो, यह सब लोक व्यवहार में चला आया था, परन्तु आत्मा-आत्मा का स्नेही नहीं है, यह सब पर्याय के सम्बंध की ही बात रही । जो इस देह के पैदा करने वाले हैं वे तो मातापिता कहलाये और जो देह उत्पन्न हुआ है वह पुत्र कहलाया, जो इस देह को रमाने वाली है वह स्त्री कहलायी । सारे व्यवहार जितने स्नेह सम्बंधी हैं वे सब देह के नाते से चले, आत्मा के नाते से नहीं चले । हाँ त्यागी के समुदाय में देह के नाते से व्यवहार नहीं चलता, वहाँ तो आत्मा के नाते से व्यवहार चलता, पर गृहस्थी में, कुटुम्ब में रहने वाला तो देह के नाते से ही सारे व्यवहार रखता है । सो उन स्नेही कुटुम्बीजनों से कह रहा है कि हमारा तुम्हारा जो सम्बंध व्यवहार था वह इस पर्याय के सम्बंध से था सो इस विनाशीक पर्याय का इतने वर्ष तक आप से सम्बंध रहा । यह पर्याय तो आयु के अधीन है । आयु का क्षय होते ही नियम से यह शरीर विनशता है । सो अब इस विनाशीक पर्याय से क्या स्नेह करना? तुम इस विनाशीक पर्याय से स्नेह मत करो । तुम्हारा स्नेह छूटेगा तो मुझे भी निर्मोह रहने में मदद मिलेगी ।

स्नेह व शोक दोनों ही न करने का परिज्ञानों का सम्बोधन—बारबार कुटुम्बीजन सामने आकर रोवें कि तुम जा रहे हो, हम अब क्या करेंगे? यों बड़े-बड़े शब्द कहें, चिल्लायें तो कुछ तो बाधा होगी ही, सो भली प्रकार समझा रहा यह सल्लेखना ब्रत वाला कि हमारा तुम्हारा पर्याय से ही तो सम्बंध था, जितनी देर आयु रही उतनी देर यह पर्याय रही, अब आयु का अन्तकाल है, पर्याय भी बिनसेगी, इस विनाशीक पर्याय से तुम स्नेह मत रखो । रही यह मेरे आत्मा की बात सो प्रथम तो आत्मा से कौन स्नेह करता? थोड़ा बहुत यदि यह भी चित्त में हो कुटुम्बीजनों के कि मैं तो तुम्हारे आत्मा से स्नेह रखता हूँ तो मेरे आत्मा का कुछ बिगड़ तो नहीं हो रहा है । आत्मा अमर है, सत् है, इसका कभी नाश नहीं होता इसलिए भी तुम्हें कोई कष्ट न मानना चाहिए । मैं आत्मा अमर हूँ । यह विनशता नहीं है, देह विनशता है इससे स्नेह क्या करना? मैं आत्मा अमर हूँ । जहाँ जाऊंगा, रहूंगा, अपने ही परिणमन से परिणमता हूँ । ऐसे ही तुम भी अपनी परिणामति से परिणमते हो । तो

आत्मा का क्या स्नेह करना? करना तो वह धर्म धारा पूर्वक ही तो होगा, वहाँ स्नेह छोड़ ही देना चाहिए। सो है कुटुम्बीजन, मित्रजन अब इस विनाशीक पर्याय से स्नेह करना व्यर्थ है। जिस देह से तुम स्नेह कर रहे थे वह देह तो अब अग्नि में भस्म हो जायगा, बिखर जायगा। जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होता ही है, और मेरे आत्मा का जो स्वरूप है वह ज्ञानानन्दमय है, अविनाशी है, मानो यह आत्मा भी जा रहा तो यह तो संसार की पद्धति है कि जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियम से होता है। ये जड़ पिण्ड पुद्गल मिल गए, ये मायारूप हैं तो ये बिखरते भी हैं। अब इस पर्याय को विनाशीक जानकर इस पुद्गल से, इस देह से स्नेह छोड़े और यदि हो सके तो मेरे आत्मा के उपयोग करने में उद्यमी होइये, निर्माहता की चर्चा करिये, आत्मा के स्वरूप की वार्ता करिये। अन्य बात करना व्यर्थ है। ये स्नेह वाले वचन योग्य नहीं हैं, जैसे मेरे ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा का रागद्वेष भावों से घात न हो ऐसा यत्न करिये। जो कुटुम्बीजन मरणहार व्यक्ति से मोह ममता की बात करते हैं तो मानो जीवनभर भी उसे रगड़ा और मरते समय भी उसे रगड़ रहे कि तुम जावो दुर्गति में। तो कुटुम्बीजनों का भी यह काम होता है कि वे इस पर्याय से स्नेह छोड़ें और जिसमें इस भगवान् आत्मा का घात न हो ऐसा ही पौरुष करें।

दर्शनज्ञान सामान्यात्मक भगवान् आत्मा की दृष्टि होने में मददगार वातावरण देने का परिजनों को सम्बोधन—
सल्लेखना ब्रत ग्रहण करने वाला यही ब्रती श्रावक अपने घर के कुटुम्बियों से कह रहा है कि जो यह देह है, जिसको हम आप लोग देखकर व्यवहार करते हैं यह तो विनाशीक है, पर्यायमात्र से ही आप लोगों का सम्बंध था, अब यह नष्ट होने वाली है, इसका स्नेह छोड़ें और जो मैं आत्मा हूँ वह अदृश्य हूँ, उससे कोई व्यवहार करता ही नहीं सो मैं अमर हूँ, इस कारण कुछ सोच भी नहीं करता और जैसे ही मेरे दर्शन ज्ञानादिक की उज्ज्वलता बने वैसा ही आप लोग व्यवहार रखें जिससे कि भविष्य में शान्त सुखी रह सकूँ। यह पर्याय तो अनन्त बार ग्रहण की है और छोड़ी है, पर मेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र उल्टा होने से चारों गतियों में मैंने भ्रमण किया और उस ही भ्रमण के सिलसिले में आज मनुष्यपर्याय पायी, सो कहां तो मेरा सर्वज्ञातास्वरूप, जिस ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य कि त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञान में झलके, परमआनन्दमयस्वरूप और कहां आज ऐसी दशा बन रही है। जब निगोद में थे, एकेन्द्रिय पर्याय में थे तो अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान रहा और कर्मोदयवश उसके परिपूर्ण ज्ञानदर्शन ये सब कुछ बिगड़ गए, नष्ट हो गए, कितने ही बार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति हुए, कीड़ा मकोड़ा विकलत्रय हुए। यह सब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का प्रभाव है। यदि इस मरण महोत्सव के समय भी न चेत पाये, कुमरण हुआ तो जैसी दुर्गतियों में अब तक घूमते आये वैसा ही घूमना पड़ेगा। सो हे कुटुम्बीजन मुझ पर कृपा कर स्नेह मत लावो, शोक भी मत लावो और इतने समय तक जो सम्बंध रहा, जो मुझ से सेवा बनी उस सेवा के फल में मैं चाहता हूँ कि मेरा मरण सुमरण हो। अपने कारणसमयसार भगवन्त निजपरमात्मद्रव्य की सुध लिए हुए मैं इस शरीर को छोड़कर जाऊंगा, तो निकट काल में ही कर्मकलंक हट जायेंगे, निर्वाण मिलेगा। सो एक यह अवसर मिला है, ज्ञानावरण का क्षयोपशम मिला है, जैन शासन प्राप्त किया है, स्वपर भेदविज्ञान भी हुआ है, तो इतनी विशेषता पा लेने पर मुझे और प्रगति करने दीजिए। हे कुटुम्बीजन अब मुझ से स्नेह करें तो ऐसा करें कि मेरा आत्मा रागद्वेषरहित

हो जाय । दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप इन चार की आराधना सहित होवे तो इस ही में आपका सच्चा स्नेह है । बारबार मैं मरुं, जन्मूँ ऐसी व्याथा मेरी कट जाय और इसका पूर्ण बातावरण आप से मिले तो यह आपका बड़ा स्नेह कहलायगा । बालबाल मरण तो अनन्त बार हुआ अज्ञान अवस्था में, पर अब तक पंडित मरण नहीं प्राप्त किया । बालपंडित मरण नहीं पाया, सो हे सज्जनों, ऐसे ही वचन सुनाओ, ऐसी ही धर्मचर्चा करो और जो-जो समय पर उपयुक्त हो वह व्यवहार करो ताकि मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना बनी रहे । समाधिमरण एक ऐसा उच्च पवित्र कार्य है कि जिसके प्रताप से यह जीव संसारसमुद्र में फिर नहीं डूबता । सो स्नेह, शोक, बैर आदिक छोड़कर मुझ से सद्व्यवहार करो और मैं भी सबसे स्नेह बैर आदिक छोड़ रहा हूँ और समस्त परिग्रहों को भी छोड़ रहा हूँ । किसी भी परिग्रह से मुझे लगाव नहीं । मैं अपने शुद्ध अंतस्तत्त्व की दृष्टि में ही लगू, यह ही मेरी भावना है । यह ब्रती श्रावक समाधिमरण के अवसर पर और क्या करता है सो बतला रहे हैं ।

श्लोक 125

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेऽम्हाव्रतमापरणस्थायि निश्चोषम् ॥१२५॥

कृत-कारित-अनुमोदित, सब पाप आलोचना कर निश्छल ।

मरण पर्यन्त समस्त महाव्रत आरोपै स्थिर हो ।

सल्लेखनाधारी का गुरु से अपने कृत कारित अनुमत पापों का प्रकाशन व निवेदन—जो जीवन में पाप किया अथवा कराया अथवा पाप करते हुए की अनुमोदना की उन समस्त पापों का आलोचना प्रकाशन करके मरणपर्यन्त अथवा कहो आजीवन महाव्रत का आरोपण करे जिसमें सर्व परिग्रहों का त्याग बने । यह ब्रती श्रावक गुरुजनों से कपट रहित अपने पाप की आलोचना करता है । यदि मरण समय पाप की सही आलोचना नहीं कर पाता तो इसके मायने यह है कि उसको इस देह से ममता है । कहीं लोग यह न जान जायें कि इसने ऐसा पाप किया । लोग कह देते हैं देह को, ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा को कोई लोग नहीं जानते । फिर लोगों का संकोच क्या? संकोच होता है तो उसके सामने यह है कि उसकी अभी देह में आत्मबुद्धि लगी है, और जहाँ देह में आत्मबुद्धि हो, पर्यायबुद्धि हो वहाँ मिथ्यात्व है । समाधिमरण कैसे हो? तो सन्यासमरण में प्रवृत्ति करने वाला यह ब्रती श्रावक अपने सर्वपापों को निष्कपट ज्यों के त्यों गुरु से कहता है । यों सबसे पापों को प्रकट करने में इसका तो कोई बिगड़ नहीं है मगर धर्म तीर्थ बिगड़ जाता है, लोगों की श्रद्धा हट जायगी । इस धर्म के मानने वाले ऐसे-ऐसे पाप करते हैं सो गुरुजनों से वह अपने पाप की आलोचना करता है । सबसे आलोचना करना बताया इसमें भी इस ज्ञानी को संकोच नहीं है, क्योंकि देह से निराले ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा की इसकी दृष्टि है । इसकी निन्दा क्या? देह को देखकर लोग सोचते हैं कि यह व्यक्ति है, तो निन्दा है सो देह की । सो पौद्गलिक की निन्दा से किसको नुकसान? जो मैं अमूर्त आत्मा हूँ उसको कोई जानता ही नहीं, निन्दा कोई क्या करेगा? और कोई जान जाय तो वह निन्दा का विषय नहीं रहता । सो इस ज्ञानी को मरणकाल में अपने

पापों को कहने में रंच भी संकोच नहीं है फिर भी धर्म प्रेम के कारण, शास्त्रज्ञा के कारण वह यहाँ वहाँ पापों का प्रकाशन नहीं करता फिरता, धर्मतीर्थ की रक्षा करता है और अपने गुरुजनों से आलोचना करता है।

सल्लेखनाधारी का गुणरूप निश्छल स्वापराध का निवेदन—जैसे बालक अपने पाप की आलोचना का करने में रंच भी संकोच नहीं करते। जो किया हो उसे मुख से कह देंगे क्योंकि वे सरल हृदय होते हैं, और जो सरल होता है उसमें धर्म की वासना होती है। कपटी में, मायाचारी पुरुषों में धर्म की बात नहीं टिक सकती। इसीलिए विवेकीजनों को, त्यागियों को, साधुवों को बताया है कि वे बालकों की तरह सरल और निर्विकार होते हैं। बालकों की सरलता की एक घटना सुनिये—कोई बाबूजी किसी सेठ के कर्जदार थे। एक दिन बाबूजी ने देखा कि सेठ आ रहा है तगादे के लिए तो झट अपने बेटे से कह दिया कि देखो बेटे वह सेठ आ रहा है। तुम जाओ बाहर चबूतरे पर खेलो, जब वह द्वार पर आवे और पूछे कि तुम्हारे बाबूजी कहाँ है। तो कह देना कि वह घर पर नहीं हैं, बस लड़का द्वार पर पहुंच कर खेलने लगा। सेठ ने आकर पूछा उस लड़के से कि तुम्हारे बाबूजी कहाँ हैं? तो लड़के ने वही उत्तर दिया जो उसके पिता ने सिखा दिया था—बाबूजी घर पर नहीं है। फिर पूछा कहा-कहा गए? तो वह लड़का बोला—ठहरो यह भी हम बाबूजी से पूछकर बताते हैं? तो इतने सरल होते हैं बालक लोग। बालकों को खेलते हुए देखकर लोग बोलते कि बचपन बड़ा अच्छा होता है, पर खुद भी तो कभी बालक थे, तब की याद करें तो लगेगा कि बचपन बहुत अच्छा होता है। पढ़ना, लिखना, खेलना, किसी बात की चिन्ता नहीं, पर ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती गई त्यों-त्यों विकार बढ़ते गए। ज्यों-ज्यों विकार बढ़ते गए त्यों-त्यों परेशानी बढ़ती गई। तो ये ब्रती श्रावक गुरुजनों से अपनी कृतकारित अनुमोदित समस्त पापों का निवेदन करता है और जो प्रायश्चित प्रतिक्रमण दें उनको ग्रहण करता है।

ब्रती श्रावक की महाब्रत सहित सल्लेखना की भावना—यह ब्रती श्रावक यदि समागम योग्य समझे तो वह महाब्रत धारण करता है। कैसा समागम चाहिए कि जिससे महाब्रत धारण करना सफल हो? बीतराग निर्दोष गुरुवों का संग मिले याने जो समता प्रिय हैं जिनका किसी जीव पर रागविरोध नहीं है। जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है, सहज आत्मस्वरूप की धुन में ही रहा करते हैं ऐसे गुरुवों का संयोग प्राप्त हो। दूसरी बात—परीषह आदिक सहन करने में समर्थ हों। चौथी बात—स्वयं में धीरता, गम्भीरता रह सके, ऐसा अपना विचार हो, ऐसा अभ्यास हो, ये सारी बातें निजसहज परमात्मद्रव्य की आराधना के प्रताप से सहज और सुगम हो जाती है। बताओ मोह छोड़ना कठिन है कि सरल? जिनको आत्मा की सुध की योग्यता ही नहीं उनके लिए कठिन है, कठिन ही क्या, उस काल असम्भव है, और जिन्होंने अपने सहजस्वरूप का अनुभव किया, निर्णय किया कि यह मैं आत्मतत्त्व हूँ तो उनके लिए सुगम है, सरल है, सहज है। मोहरहित होना यह तो सरल काम है, पर मोह रागद्वेष न करना यह कठिन काम है। निर्मोह होना कितना सरल है कि उसमें किसी बाहरी पदार्थ की अपेक्षा नहीं, किसी की आशा नहीं, स्वयं स्वाधीन है, और रागद्वेषादिक का करना कठिन क्यों है कि इसमें पर की अपेक्षा है, दूसरे भी इसमें खुश रहें, दूसरों की भी कृपा रहे, कर्म का उदय अनुकूल हो, यों उसमें कितनी ही अपेक्षायें चाहिए, तब यह जीव रागद्वेष कर सकता है। इतना सरल सुगम कार्य है निर्मोह

होना और आत्मतत्त्व में लीन होना, पर जिनका ध्येय बन गया आत्मस्वरूप के दर्शन का उनके लिए सब सुगम है, और जिनके अज्ञान है, बाह्य विषयों में जिनके आसक्ति है उनके लिए यह कल्प्याण का मार्ग कठिन है। ये ब्रती श्रावक सल्लेखना के समय ध्यान धर रहा है, महाब्रत धारण करने के लिए चिन्तन कर रहा है कि मेरे को निर्दोष गुरु का संयोग हो, मेरे रागादिक कषाय घट जायें, परीषह आदिक सहन करने की सामर्थ्य हो, धीरता गम्भीरता आदिक गुण प्रकट हों, साथ ही निर्गन्ध वीतराग गुरु मेरा निर्वाह करने को समर्थ हों। देश काल का शुद्ध सुयोग हो ताकि मैं महाब्रत धारण करूँ। वह देखता है कि यदि योग्य समागम है तो वह महाब्रत धारण करता है और यदि योग्य समागम न पाया तो भी परिग्रहों का त्यागकर अपने आत्मप्रभु का ध्यान धरकर, अपने स्वरूप का ध्यान रखकर अरहंत के स्मरण सहित आलोचना करता और अपनी शक्तिमाफिक परिग्रह का त्यागकर, पंचपाप का त्यागकर घर में ही रहते हुए महाब्रती तुल्य साधना करता है।

सल्लेखना में विवेकी का व्याधियों के प्रसंग में भी कायरता छोड़कर धीर बीर रहना—मरण काल एक कठिन काल है। शारीरिक वेदनायें रोगादिक बढ़ जाते हैं, कफ बढ़ गया, खासी हो गई, बुखार बढ़ा है, यों कितने ही रोग इस मरणकाल में आते हैं, पर एक बात विलक्षण है कि जब मरणकाल अत्यन्त निकट हो जाता है, जिसे कहते हैं कि यह तो बस दो चार मिनट का ही महिमान है तो उस समय पता नहीं ये सब रोग कहां चले जाते? वह वेदना नहीं रहती। बहुतों को देखा होगा मरण समय में कि बड़े कठिन रोग से ग्रस्त है और उन अन्तिम दो चार मिनटों में रोग उनके नहीं रहता। तो यह भी एक अच्छा अवसर सा है, और फिर यह ज्ञानी पुरुष इतना ज्ञानबली है कि रोगादिक वेदनायें भी आती हैं तो कायरता छोड़कर बड़े धैर्य से उन सबको समतापूर्वक सहता है। जहाँ भेद-विज्ञान प्रबल है और अपने आत्मस्वरूप की ओर अभिमुखता है वहाँ वेदनायें सहलेना बहुत आसान होता है। यहाँ भी तो देखा जाता है कि करीब-करीब एकसी ही बीमारी तो है १० व्यक्तियों को, उनमें एक व्यक्ति तो चिल्लाता है बुरी तरह, कोई मामूली कराहता है कोई शान्त पड़ा रहता है, वेदनायें करीब एक सी ही हैं, रोग एक सा है, ऐसा भी यहाँ अन्तर देखा जाता है, वह अन्तर किसने कर दिया? उन आत्माओं के स्वयं के ज्ञान ने अन्तर कर दिया, देह में ही दृष्टि जिसकी बनी है, देह को ही जो आत्मस्वरूप मानता है उसकी वेदनायें अधिक हैं और देह से निराला अपनी अमृत चेतना को आत्मारूप मानता है उसे वेदनायें कम हैं अथवा नहीं हैं। जैसे यहाँ कोई किसी दूसरे के लड़के को सताये या कुछ भी दूसरे का नुकसान होता हो तो उसे देखकर भीतर में विह्वलता न हो। भले ही थोड़ा कुछ सम्बंध से कुछ सज्जनता के नाते से थोड़ा सोचते हैं, खेद करते हैं मगर आन्तरिक विह्वलता तो नहीं होती, वह जानता है कि जो हो रहा वह दूसरे का हो रहा, तो ऐसे ही यहाँ की बात समझिये। शरीर में कोई रोगादिक बने, व्याधियां बढ़ें तो वह देखता है कि यह दूसरे का हो रहा है देह में ऐसा परिणमन हो रहा है। जिसने अपने को अत्यन्त निराला अनुभव कर लिया उसको ये वेदनायें नहीं सताती। तो कायरपना छोड़कर यह ज्ञानी पुरुष सल्लेखना के काल में बड़ी-बड़ी व्याधियों को धैर्यपूर्वक सहता है।

आई हुई व्याधि वेदना उपसर्ग आदि में भी सल्लेखनाधारी के आत्मप्रसन्नता—भले ही कुछ थोड़ी वेदना है, मगर न यह कराहता है, न लोगों को अपने शब्दों से प्रकट करता है कि मेरे को इतनी कठिन वेदना है।

क्योंकि स्वयं ही उसमें इतना ज्ञानबल हुआ है कि प्रकट करने के लायक उसके पास राग नहीं है । यह भी समझता है विवेकी कि पूर्व कर्म खुदने ही तो कमाया है, उनका उदयकाल आ रहा है तो यह तो मेरे लिए भली बात है । मैं तो इन कर्मों के कर्जे से आज मुक्त हो रहा हूँ । किसी को यदि दुःख होता है तो वह पापकर्म के निकलने से होता है किसी को यदि सम्पदा सुख सामग्री मिलती है तो वह पुण्यकर्म के निकलने से मिलती है । कहने का रिवाज ऐसा है कि इसके बड़ा पाप का उदय है जो इतना कष्ट पा रहा इसके बहुत पुण्य है जो इसको सुख सम्पदायें प्राप्त हो रही हैं, पर वास्तविकता क्या है? उसे यों कना चाहिये कि इसके पापकर्म निकल रहे हैं अब या जिनको सुख सम्पदा मिली है उनका पुण्य कर्म अब निकल रहा है । निकलना और उदय होना दोनों का एक ही अर्थ है । जैसे सूर्य का उदय होना और सूर्य का निकलना इन दोनों का मतलब एक है । ऐसे ही कर्म का उदय होना और कर्म का निकलना इन दोनों का भी मतलब एक है । होता यह है कि पुण्यकर्म का भण्डार बहुत पड़ा हुआ है सो कुछ निकला, बाद में और निकला, बस निकलने की धारा बनी रहती है कुछ काल तक सो वह वैभव कुछ काल तक टिका हुआ दिखता है, ऐसे ही पापकर्म का भी भण्डार पड़ा है सो अमुक पाप निकला जिससे कष्ट हो रहा, तो पाप के निकलने की धारा बनी हुई हैं, सो उसका कष्ट देर तक रहा करता है । तो यदि कोई विपदा आये, रोग आये तो यह तो भला है कि जो पापकर्म कमाया था वे पापकर्म अब मुझ से निकलकर विदा हो रहे । कर्तव्य यह है कि उस काल में उन विपदाओं में घबड़ाये नहीं, और यह ज्ञान बनाये रहें कि मेरे पर क्या विपदा है? वह बाह्य पदार्थों का परिणमन है, हो रहा है । देह का अमुक परिणमन है जो भी हो रहा है, मेरे में कहां विपदा है? अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा में कहां से विपदा आ सकती? ऐसा अपने को निरापद निरखें, वेदनायें समता से फिर सुगमतया सहली जाती है । सल्लेखना का अर्थ ही यह है कि विषयकषाय के भावों को भले प्रकार कृश कर देना और अपने को विषयरहित कषायरहित ज्ञाताद्रष्टामात्र निरखना । जो इस चैतन्यभाव रूप अमृत का पान करता है वह अमर ही है । उसका मरण कहां है? सल्लेखना व्रत के समय यह ब्रती श्रावक अपने ज्ञानबल द्वारा समस्त आकुलताओं को दूर कर देता है ।

सल्लेखना धारण करने वाले का अपनी निःशल्यता के लिये सर्वव्यवस्था विभाजन की पूर्णता का प्रक्रम— सल्लेखना धारण करने वाला महाभाग पुरुष उससे पहले घर की ऐसी व्यवस्था बना देता है कि जिससे बीच में कभी कोई शल्य न आये । वह व्यवस्था किस तरह की है? जैसे किसीने कोई धन हर लिया हो छल से, झूठ से, जर्मीन, मकान, रत्न आदिक, तो पहले उसको बुलाकर अपने अपराध की क्षमा कराकर उनका धन, मकान, जर्मीन आदिक जो भी किसी प्रकार हर लिया है वह वापिस देता है, फिर जो कुछ धन आदिक परिग्रह है उसके विभाग कर देता है, लड़कों को देता है, लड़की, बहिन, बुआ आदिक जो भी हैं उनको देता है, दीन दुःखी, अनाथ, विधवा या जो-जो भी इसके आश्रयभूत हैं उन्हें जो देना है सो देकर सब विभाग बनाकर, अपना उसमें कुछ भी न समझकर अपने लिए कुछ न रखकर समस्त परिग्रहों को त्यागकर सबमें ममता को छोड़ देता है । लोग जिनको कुछ देते हैं उनसे कुछ आशा रखते कि ये हम को भला मानें, अच्छा कहें, प्रशंसा करें, इस तरह कुछ उनसे अपेक्षा रखता है, पर ऐसी अपेक्षा सल्लेखना वाले के नहीं है । उसने तो विभाग किया सो अपने को निःशल्य रखने के लिए और यह भी शल्य न रहे कि बाद में कोई झगड़ा उठे । किसी प्रकार

की शल्य न रहे एतदर्थं यह सारा विभाग किया है, इसके पश्चात् सबमें ममता को छोड़ दिया, शरीर के संस्कार को भी त्यागा, देह की सेवा को भी त्यागा । अंत में केवल पंचपरमेष्ठियों का स्मरण और आत्मस्वरूप का स्मरण ये दो ही उसके आधार रहते हैं ।

प्रभुगुणस्मरण की भावना—पूजा करने वाला, दर्शन भक्ति करने वाला यह प्रार्थना करता है रोज जैसा कि भक्ति पाठ में लिखा है—

आबाल्याज्जिनदेव देव भवतः श्रीपादयोः सेवाया ।

सेवासक्तविनयेकल्पलतया कालोऽद्य यावदगतः ॥

त्वं तस्याः फलमर्थये पद्धुना प्राणप्रयाणक्षणे ।

त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम ॥

हे प्रभु, बचपन से लेकर आपकी चरण सेवा में मैंने इतने वर्ष व्यतीत कर डाला, ऐसी आज तक जो मैंने भक्ति सेवा आदिक किया है सो उसका फल मैं यह चाहता हूँ कि जब मेरे प्राण का प्रयाण हो, मरणकाल हो उस मरण के समय में आपके नाम के दो अक्षर हैं जिन अक्षरों के बोलने में मेरा कंठ न रुंध जाय, अर्थात् मैं आपके नाम के अक्षर बोलता हुआ और उसका चिन्तन करता हुआ मरण करूँ । केवल यही चाहते हैं जीवनभर प्रभु की भक्ति के फल में । यह तो बड़ा अज्ञान है जो किन्हीं लोगों के चित्त में आता है दर्शन करके, पूजा करके, यात्रा करके कि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो । पुत्रादिक की प्राप्ति हो, धन आदिक मिलें, कुछ भी वाञ्छा रखकर धर्मकार्य करना अज्ञान में ही हुआ करता है । और यों समझिये कि इस प्रकार की इच्छा कर लेने से मेरा आने वाला पुण्य घट गया, लाभ न हुआ, तिस पर भी पूर्व पुण्य मानों महान था और धर्म के एवज में सांसारिक चीजें मांग ली तो मिलना बहुत था सो अब कम मिला । लेकिन यह अज्ञानी उस कम मिले को ही समझता कि मुझे भगवान ने दिया है । निर्बञ्छ होकर प्रभु की भक्ति करने से मन चाहा स्वयं मिलता है । पर धर्मधारण के एवज में चाहने से पुण्य घटता कुछ पापरस ही आता है । क्योंकि मूल में मिथ्यात्व पड़ा हुआ है । जहाँ मोह और मिथ्यात्व बसा हुआ है वहाँ सातिशय पुण्य की कोई आशा रखे तो वह व्यर्थ है।

सर्व परिज्ञन सम्पदा में ममत्व त्यागकर निजदर्शन ज्ञानस्वभाव में उपयुक्त होने की भावना—सल्लेखना व्रतधारी आत्मा कुटुम्बीजन, मित्रजन, चेतन अचेतन समस्त परिग्रहों से ममता को त्याग देता है । वह जान रहा कि अब यह मरणकाल है । इस पर्याय का सम्बन्ध कितने समय का है और फिर इन बाह्य वस्तुओं से देह का ही तो नाता था, उसकी क्यों ममता हो? अथवा देह ही छूट रहा फिर ममता का अर्थ क्या? हमारे आत्मा का सम्बन्ध तो अपने स्वभावरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से है । यह ही मेरा निजी स्वरूप है, सो इसमें ही मेरा सम्बन्ध बढ़े और जो देह है, हाड़, मांस, मज्जा, खून आदिक से रचा है यह तो कृतघ्न है । इस देह की इतनी सेवायें की मगर यह तो रोग व्याधि कष्ट आदिक का उपजाने वाला बन रहा है । यह देह जड़ है, यह मेरा कुछ नहीं है, मैं इसका कुछ नहीं हूँ । देह विनाशीक है, मैं अविनाशी हूँ, अत्यन्त विलक्षणता तो है फिर सम्बन्ध किस बात का? जो अंत तक ममता रही आयी वह सब मेरे अज्ञान के कारण रही आयी और

उस अज्ञान में ही अशुभ कर्म का बंध किया । अब तो मेरी यह ही अभिलाषा है कि यह देह मुझे कभी मिले ही नहीं । जैसा मैं अपने आपके सहज स्वरूप में हूँ विविक्त, सर्व से निराला ज्ञानमात्र ऐसा ही मैं सर्वप्रकार से हो जाऊं अन्य वाङ्छा नहीं है क्योंकि देह से लाभ नहीं है । हानि ही है । इस देह की ममता से जन्ममरण की धारा बनती है । आत्मा को जो अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन आदिक विकास है वह विकास रुक जाता है ।

समस्त दुःखों के मूल देह से ममत्व करने की व्यर्थता—जितने भी संसार में दुःख हैं वे सब इस देह के कारण ही है । जो मेरे दुःख का कारण हो उससे ममता किस बात की? आप कोई भी दुःख का नाम लेते जाइये, क्या-क्या दुःख हैं । सबमें यह मिलता जायगा कि देह के सम्बंध से ही दुःख हैं, अन्यथा दुःख कुछ नहीं । किसी भी प्रकार के दुःख का नाम लो—धन नहीं रहा, यश मिट गया, निन्दा हो रही हो, कुटुम्ब का कोई गुजर गया हो, व्याधियां हुई हों, किसी प्रकार का भी दुःख हो, सबका आधार है देह का सम्बंध तो जिस देह के संयोग के कारण कष्ट उठाना पड़ रहा है उस देह से क्या ममता? और भी जितनी आपत्तियां आती हैं ऋग, मान, माया, लोभ, कामवासना विकार आदि अनेक बातें जो भी विपत्तिरूप होती हैं उन सबका कारण है देह का सम्बंध । ऐसे देह से क्या राग रखना । सो उस देह से भी कुटुम्बीजनों से भी ममता त्यागकर अब अपने निजस्वभाव में मग्न होता हूँ । सल्लेखना ब्रतधारी का केवल एक ही काम है भीतर, इसी को कहते हैं अन्तः क्रिया, (भीतरी काम) । यह सल्लेखना ग्रहण करने वाला ब्रती श्रावक और क्या करता है सो बताते हैं ।

श्लोक 126

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।

सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥१२६॥

शोक और भय विषाद स्नेह कलुषता अरतिभी तजकरा

सत्त्वोत्साह प्रगटकर, श्रुतअमृत से करे मनतुष्ट ॥

शोक विषाद त्यागकर प्रभुवचन श्रवण से आनन्दरस का पान—सल्लेखना के अवसर पर शोक, भय, विषाद, स्नेह, कलुषता, अरति आदिक कुभावों को त्याग करके और अपने आपके बल को प्रकट करके उत्साह प्रकट करके अमृतमय जिनवाणी के वचनों के श्रवण से अपने मन को शान्तचित्त करके आत्मा की साधना करें । शोक क्यों उत्पन्न होता? उस शोक का कारण है अज्ञान । मैं आत्मा एक हूँ, इस आत्मा का द्वितीय कुछ भी नहीं है । इस मुझ में किसी पर का प्रवेश नहीं है । सर्व बाह्य-बाह्य बातें हैं, लेकिन अनादिकाल से इस जीव के बाह्य बातों में आत्मबुद्धि रही । जब जो पर्याय प्राप्त किया उस पर्याय में आत्मबुद्धि लगी है । देह को आत्मा माना । देह मिलने को जन्म माना, देह के वियोग को मरण माना । जब यह देखते हैं कि मेरा देह मिट रहा या धन, पुत्र, मित्र, स्त्री का वियोग हो रहा तो इसको बड़ा कष्ट उत्पन्न होता है ऐसा शोक अज्ञानी के होता, सम्यग्दृष्टि के शोक नहीं होता । एक वह भीतर में प्रकाश पाल लिया जाय जिस प्रकाश के पाने से सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं । संकट क्या है? परपदार्थों के बारे में अपनी कल्पना इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाना, बस यह ही कष्ट है, दूसरा कोई कष्ट नहीं । बाहरी चीजें बाहर हैं वे सब अपने आप में पूरी हैं, उनसे कष्ट क्या निकलेगा?

उनमें कष्ट भरा ही नहीं है । पर पदार्थों के विषय में ममता विकल्प इष्ट अनिष्ट भावना होना यह कष्ट है । और देखो सभी मनुष्य अपने-अपने में ख्याल बनाये हुए हैं कि यह मेरा घर है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा सब कुछ है, और इनके लिए ही मेरा सब कुछ है, तन, मन, धन, वचन, प्राण । सब अपने-अपने चित्त में ऐसा एक अध्यवसान बनाये बैठे हुए हैं । बाकी सारी चीजें, दूसरे की सब बातें उसे गैर लगती, न कुछ लगती, मतलब नहीं । उन पदार्थों का बिगड़ हो, नाश हो, कुछ भी हो, उससे हम में कुछ भी प्रभाव नहीं आता ।

ममता करने की कुबुद्धि में आत्मघात—जिनको अपना मान रखा है उनको ही अपना सर्वस्व मानने की आस्था है, तो कितनी बड़ी कुबुद्धि है, और कितनी बड़ी विपत्ति है । आज जिसको गैर माना जा रहा, मरकर उसी के लड़का बन गया तो अब वह अपना बन जायगा और पूर्वभव का जो सब कुछ है कोई घटना बनी वह गैर बन जायगा, दुश्मन हो जायगा । कैसा पागलपन है कि आज जिस पर्याय में आये हैं उस पर्याय के सम्बंधियों में तो ममता है बाकी सब जीवों में उपेक्षा बुद्धि है । ऐसी यदि आस्था है तो यह विपत्ति है, उम्मतता है, मदमत्तता है, अपने की सम्हालना चाहिए और कुटुम्बीजनों से ममता हटे, मिथ्यात्व हटे और सब जीवों में इष्ट अनुराग जगे, मैत्रीभाव बने तो इसमें आत्मा की रक्षा है । और जो करते आये अनादि से उन्हीं दो चार जीवों में ममता बनाये रहे तो यह विपत्ति है, अधर्म है, पाप है । यह बात चित्त में अगर पूरी पड़ी हुई है तो भगवान की पूजा और विनती का अर्थ क्या रहा? जैसे कोई कहे कि पंचों की आज्ञा सिर माथे मगर पनाला यहीं निकलेगा, तो फिर सिर माथे का अर्थ क्या रहा? अपनी आदत में फर्क नहीं डालते, मोह में, ममत्व में, दूसरों से धृणा में, विरोध में, दो धारा बनाने में उसमें कुछ फर्क न डाला, भीतर में समझ भी न बनाया तो धर्म के नाम पर इतनी बड़ी बात करने का क्या अर्थ रहा? अर्थ इतना ही रहा कि जैसे अनेक शौक लगते हैं पुरुषों की ऐसे ही एक पूजन दर्शन का भी शौक लग गया इसका एक ही अर्थ रहा । यदि भीतर में कुछ अपने परिणाम सुधारना चाहते ही नहीं है न तत्त्वविचार चाहते हैं तो थोड़ा पुण्य बनेगा सांसारिक चीजें मिलेंगी, रुलना वही का वही बना रहेगा ।

जीवन में सद्भावना बनाये रहने से सल्लेखना की सुगमता—धर्मसाधना की बात करना चाहिए घर में रहकर जिन्दगी में, मरते समय की आशा न बनावें कि मरते समय हम सब कुछ छोड़ देंगे, अभी तो बहुत जीवन पड़ा है, ये काम तो तब के करने के हैं, ऐसा मरण पर निर्भर न करें । अपने ही इस जीवन में यह तपश्चरण करें कि सर्वजीव एक समान है । घर में गुजारा करना है इसलिए उस गुजारे के नाते से सही व्यवस्था के हेतु राग करना होता है । व्यवस्था करना है प्रबंध करना है सो यह तो है गृहस्थधर्म में कर्तव्य मगर उनको ही अपना सर्वस्व मानकर वही-वही चित्त पर चढ़ा है, बाकी लोगों का कुछ महत्व नहीं आंका जाता है, यह है विपत्ति । शोक का कारण क्या है? मिथ्यात्व, अज्ञान, बाह्यपदार्थों में लगाव । जिसको अनिष्ट माना उसका संयोग होने पर यह शोक करता है, जिसको इष्ट माना उसका वियोग होने उपर यह शोक मानता है।

क्लेशमूल शरीर से प्रीति न करने में श्रेयोमार्ग का लाभ—हे आत्मन् ! पर्यायें तो अनन्तानन्त ग्रहण हुई है

और छूटी हैं और पर्याय, यह देह क्लेशों का स्थान है। इस देह के कारण रोज-रोज ही दुःख भोगना पड़ता है। भूख लगती, कुछ क्षुधा की वेदना रोज-रोज सहनी पड़ती। तो भले ही भोजन साधक है, खा लिया पेट भर गया, मगर खूब ठूँस लिया तो फिर पेटर्ड के मारे पड़ गए, आखिर इस देह को कष्ट ही कष्ट तो हुआ, शीत, उष्ण, प्यास, भय आदिक सभी के उत्पन्न होने का साधन यह देह है। जिस देह से तुझे इतनी तीव्र ममता हुई है सो तत्काल भी कष्ट पाया और अनन्त ज्ञानादिक गुणों का विकास रुक गया, सो अपवित्रता भी पायी। यह देह समस्त पापों का उत्पन्न करने वाला है, और कुछ समय बाद लोगों के द्वारा जला दिया जायगा ऐसे इस देह को दुःखमूल निरखकर प्रीति करना तो छोड़ दो। पर्याय में आत्मबुद्धि होना कष्ट का कारण है। इस देह को तो दुष्ट संग की तरह छोड़ देना चाहिए। जैसे—दुष्ट का संग मिल जाय तो उसको छोड़ने की ही ठानते हैं ऐसे ही देह का संयोग मिला है, संग मिला है तो इससे सदा के लिए छुटकारा पाने की ही मन में ठानो। इस देह से सदा के लिए छुटकारा होने का उपाय अपने सहजस्वरूप को ही आत्मसर्वस्व मानना यह ही मात्र उपाय है। दुष्टों से कोई प्रीति करे तो वे तो बढ़ेंगे, आयेंगे, रहेंगे, ऐसे ही देह से जो प्रीति करे तो उसको तो देह आयेंगे, बारबार मिलते रहेंगे यह ही होगा इस देह की प्रीति में।

पौद्गलिक पर्याय समागम में हर्ष विषाद कर सहजात्मस्वरूप की उपासना का कर्तव्य—गृहस्थजनों को सोचना चाहिए कि वे अपने वर्तमान साधन समागम में मौज न मानें। उन मौज का परिणाम अच्छा नहीं है। हो रहा है, व्यवस्था बनाइये, राग भी करना पड़ता तो करिये मगर ममत्व न रखिये। इस संसार समागम के मिलते रहने का उपाय न बनाइये। ध्यान रहना चाहिए अन्तः अपने विविक्त स्वरूप का, सबसे निराला ज्ञानमात्र। मेरी जिम्मेदारी मेरे पर ही है, दूसरों पर नहीं है, दूसरे तो मैं अच्छा रहूँ तो वे मेरे सुकार्यों में सहायक बन जाते हैं, मैं ही गड़बड़ होऊँ, विहूल होऊँ, ममता करूँ, अज्ञानी रहूँ तो मैं ही अपने अपराध से दुःखी होता हूँ। इसमें दूसरे लोग क्या कर देंगे? इस ब्रती श्रावक को सल्लेखना के समय में सर्व से ममता छूट जाती है। सबसे अधिक बंधन है दृश्यमल पदार्थों में तो शरीर का बंधन है। सो यह शरीर जान लिया गया कि समस्त दुःखों का बीज है, बड़े संताप और उद्वेगों को उत्पन्न करने वाला है। सदा ही भय को उत्पन्न करने वाला है। अमूर्त ज्ञानमात्र जैसा है वैसा ही रहे, वहाँ भय का क्या काम? अंतस्तत्त्व कैसे हो सकता? असम्भव है, पर देह का सम्बंध है तो उससे भय उत्पन्न हो रहा। कुछ से कुछ विचारता। यह देह तो जेलखाना है, जैसे बैरी जेलखाने से नहीं निकल पा रहा, वहाँ रहता हुआ वह दुःखी हो रहा, ऐसे ही यह आत्मा इस देह जेलखाने से नहीं निकल पा रहा और यह भीतर रहता हुआ अनेक कल्पनाओं से दुःखी होता रहता है। इसका स्नेह क्या करना? इसका स्नेह तजकर, वियोग का शोक तजकर सहजात्मस्वरूप की उपासना करना।

सल्लेखनाधारी का निर्भय होकर अध्यात्मसाधना का पौरुष—यहाँ भय किस बात का करना? जिसका भय लगा उससे ममता छूटे तो भय समाप्त। भय होना, शंका होना यह सम्यक्त्व का महादोष है। यदि भय शंका होने लगे तो वहाँ सम्यक्त्व नहीं रह सकता। सब कुछ निर्भर है अपने सहज आत्मस्वरूप के निर्णय पर। भय किस बात का? बाह्य पदार्थों का मुझमें प्रवेश नहीं। बाह्य पदार्थ मुझ में कुछ परिणति बना सकते नहीं। मैं अपने आप में अपनी योग्यता से अपने में परिणाम बनाता रहता हूँ। जब इसमें किसी दूसरी वस्तु का प्रवेश

ही नहीं है तो भय का अवसर क्या? क्या भय आयगा? जो पुरुष अपने इस सहज आत्मस्वरूप को उपयोग में नहीं लेते और बाह्य पदार्थों से अपना राग ममत्व रखते हैं उन जीवों को भय रहता है। जैसे जीवन शोक में गुजारा ऐसे ही यह जीवन भय में भी गुजरा। आत्मस्वरूप की सम्हाल किए बिना सबसे इसने भय माना, परिजनों से, मित्रों से, सरकारी लोगों से, शत्रुओं से, चोरों से सबसे इसने भय माना और एक अन्तस्तत्त्व की दृष्टि हो तो वहाँ महान बल प्रकट होता है कि लौकिक हिसाब से भी भय नहीं रहता, परमार्थ भय तो रहता ही नहीं। तो भय का कारण भी यह देह का सम्बंध है। बैठे हैं, किसी बालक ने पुरुष ने पीछे से आकर अटपट हल्ला किया तो यह डर गया। अकेला आत्मा भर हो तो वह डरेगा क्या? देह का सम्बंध है सो देखो आत्मा में भी भय का प्रभाव बन गया। तो भय का कारण भी यह देह है। ज्ञानी पुरुष को तो देह के विनाश का भी भय नहीं आता, अन्य भय तो आयेंगे ही क्यों? वह जानता है कि मरण कोई चीज का नाम नहीं है। जीव और देह एक जगह रह रहे थे सो अब देह अन्य जगह रह गया, जीव अन्य जगह चला गया, बस यहीं तो बात हो रही है। इसमें मरण किसमें हुआ? जीव-जीव की जगह परिपूर्ण है। देह की आयु देह की जगह परिपूर्ण है, कुछ भी चीज कभी मरती ही नहीं। जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता। तो ज्ञानीजीव अपने को अमर रखता है, वह किसी भी बात का भय नहीं करता।

सर्वममत्व छोड़कर प्रभुवचनामृतपान की धुन—सल्लेखनाधारी सर्व से अत्यन्त विरक्त होने से रंच भी किसी भी स्थिति में विषाद नहीं करता, जिसे देह से भी ममता नहीं है वह किसी भी बाह्य परिणति से प्रभावित नहीं होता। ध्रुव सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व का अनुभव कर लेने से अब इस ज्ञानी को किसी भी प्रकार का स्वेह विरोध आदि कुछ भी कलुषता नहीं रही। यह तो बड़े उत्साह से अपना साहस धैर्य प्रकट करता हुआ अमृत स्वरूप प्रभु वचनों का कर्ण पात्र से पान करता है। इस श्रावक को सल्लेखना के समय अध्यात्म अमृत के पान की धुन लगी है, अतः दूसरे ज्ञानीजनों के मुख से अध्यात्म वचनों को सुनता है, स्वयं अध्यात्म तथ्यों का स्मरण व मनन करता है। यह सल्लेखनाधारी ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ शुद्धं चिदस्मि, का सविनय आराधना करता है, अपने में अविकल्प स्थिति का पौरुष करता है।

मरणावसर में बोधि समाधि की परम शरण्यता—ब्रती श्रावक ने मरण समय तत्त्वज्ञान के बल से परिजन, मित्रजन धन सम्पदा देह सभी से ममत्व का त्याग कर लिया है और इसी कारण अब उसके न शोक है, न डर है, न स्वेह है, न विरोध है, किसी भी प्रकार की कलुषता उसके चित्त में नहीं है। ऐसा निर्मल भव्य आत्मा मरण महोत्सव में चिन्तन कर रहा है कि इस मरण पथ पर चलने वाले अर्थात् देह को छोड़कर अकेले शरीर को धारण करने के लिए जाने वाले इस आत्मा को बोधि और समाधि का लाभ हो। बोधि का अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति और समाधि का अर्थ है उसको उपयोग में बसाये हुए चलना और उसका निर्वाह करते हुए अगले भव में पहुंचना। सो परलोक के मार्ग में उपकारी वस्तु यहीं है। मरण के बाद जीव के साथ बोधि समाधि जायगी, देह भी साथ नहीं जाता। कुटुम्ब, मित्रजन, धनसम्पदा सब यहीं के यहीं पड़े रह जाते हैं। मैंने अनादिकाल से अनन्त खोटे मरण किया है जिनकी याद भी मुझे नहीं है, पर युक्ति बतलाती है कि जों मैं हूँ सो अनादिकाल से हूँ। और जब अनादिकाल से हूँ तो किसी न किसी पर्याय में रहा

आया था । वह पर्याय कौनसी होगी? जगत में जो ये पर्यायें दिख रही हैं ये ही तो होंगी और जो नहीं दिख रही हैं सो भी अनेक पर्यायें हैं । एक दो तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय पशु पक्षी देव, नारकी, मनुष्य, ऐसे भवों में रहकर अनन्तकाल व्यतीत हो गया । और अब तक उन भवों में रागद्वेष ममता करके खोटा ही मरण किया और यह दुर्गति की धारा बराबर चली आयी । एक बार भी सम्यक् मरण नहीं हुआ । यदि समाधिमरण होता तो संसार में मरण करने का, भ्रमण करने का पात्र न रहता ।

समाधिमरण का महत्त्व—समाधिमरण कितना अलौकिक वैभव है । इसके भविष्य का फैसला है उस समय कि भविष्य शान्ति में रहेगा या कष्ट में ही गुजरेगा । और अन्त समय में समाधिमरण बने इसके लिए जीवन में अभ्यास करना है । यह ही मान लें कि हमारा मरण तो प्रति समय हो रहा है, आवीचिमरण तो है ही । जो आयु के निषेक खिर गए वे वापिस नहीं आते । आज जो जिसकी अवस्था हो गई उसको बीती हुई अवस्था फिर से वापिस मिलेगी क्या? न मिलेगी । तो फिर रहा सहा जितना जीवन है वह अच्छे भावों में व्यतीत हो, किसी दूसरे से क्या लेना देना । सब जीव मेरे स्वरूप के समान है । सर्व सुखी हो सर्व को उन्नति का मार्ग मिले । जीवन जितना बचा है उसमें अच्छे भाव रहना चाहिए । किसी भी योग्य कार्य में विघ्न न डालना । दूसरे को पनपता हुआ देखकर मन में जलन न करना । यह संसार मायाजाल है, यहाँ जो दृश्य है वह परमार्थ नहीं है, परमार्थ तो अनादि अनन्त ध्रुव वह स्वरूप सामान्य है । तो जिसने अपने जीवन में भलाई की ही बात सोची, सर्व जीवों का हित ही सोचा, अपने आत्मतत्त्व की भावना बनायी उस पुरुष को मरण समय में समाधि का लाभ होता है ।

सल्लेखना की सिद्धि के लिए जीवन में विधातव्य सप्तभावनाओं में प्रथम भावना—पूजा के अन्त में ७ भावनायें बोलते हैं वे ही प्रयोगरूप होना चाहिए जीवन में, तब अन्त समय में समाधि की सुप्राप्तता होती है । पहली बात है शास्त्राभ्यास, ग्रन्थ का स्वाध्याय, अभ्यास, पढ़ना, चर्चा । अपनी-अपनी भी सोच लो कि हमारे इस जीवन में २४ घंटे में कितना समय ज्ञानवार्ता में जाता है, यदि नहीं जाता तो उसका खेद मानना चाहिये । जिन्दगी यों ही व्यर्थ चली जा रही है, एक बड़ा अवसर मिला मनुष्य होकर कि यह चाहे तो संसार के समस्त संकट दूर करने का उपाय बना सकता है । ऐसा भला अवसर कब-कब मिलेगा । संसार के जीवों पर दृष्टि पसारकर देखो कैसे-कैसे कीड़े मकोड़े पतंगे एकेन्द्रिय जीव, कैसी स्थिति दुर्दशा में पड़े हुए हैं । यह मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ है देव भी इन्द्र भी इस मनुष्यभव को तरसते हैं । कब मैं मनुष्य होऊं, रत्नत्रय की साधना करूं और संसार के जन्म मरण से सदा के लिए छुटकारा पाऊं, ऐसा यह मनुष्य जन्म पाया और इसका महत्त्व न आके और जैसा वह भाव बनायें विषयों में कषायों में उनमें वह जाय यह कितने खेद की बात है । बाहर में किसका बुरा विचारना । बुरा विचारने से कहीं बुरा नहीं होता दूसरे का, पर इसका बुरा अवश्य ही होता है । खोटे कर्म बांधे उनका उदय आयगा, इसे दुःखी होना पड़ेगा । सद्भावना होने से, उसके लिए शास्त्राभ्यास जीवन में चलते रहना चाहिए । चाहे उपदेश देकर चले, चाहे पढ़कर चले, बांचकर चले, प्रश्न से चले, चाहे पाठ करते हुए । मनन करते हुए शास्त्राभ्यास चले । जितना ज्ञानलाभ मिले वह तो अपनी कमायी और जितना ज्ञान से दूर रहकर बाहरी बातों में उलझे रहे, फंसे रहे, बोलते रहे उतना ही टोटे में, नुकसान में । सो शास्त्र

का अभ्यास होना एक बहुत महत्व की बात है। वृद्ध हो जाय आंखों से न दिखे तो भी अब धर्मात्माजन यत्रतत्र मिलते हैं, उनसे श्रवण, मनन ही तो चाहिए, आत्मा की दृष्टि ही तो चाहिए। जैसे पढ़ने से दृष्टि बनती है उससे भी जल्दी सुगमतया सुनने से दृष्टि बनती है। तो शास्त्राभ्यास द्वारा अपने इस जीवन को सुवासित करना। आत्म वासना से पुष्ट करना, यह कर्तव्य है जीवन में। और देखिये—कितना ही कष्ट हो कैसा ही क्लेश हो, आप शास्त्र के पढ़ने और लिखने में लग जायें, कष्ट का विकल्प न चलेगा। अपने विचार लिखिये और ग्रन्थों को स्वाध्याय कीजिए तो आपको शान्ति मिलेगी। कष्ट आने पर कष्ट की तरफ ही दृष्टि जाय तो वह दुगुना हो जाता है कष्ट। कष्टरहित आत्मा के ज्ञायक स्वरूप पर दृष्टि जाय तो कष्ट दूर हो जाता है। ऐसी योग्यता पाने के लिए चाहिए शास्त्राभ्यास। तत्त्वज्ञान बिना जग से पार हुआ ही नहीं जा सकता। वह कौनसा बल है ज्ञान को छोड़कर जिस बल से यह जीव प्रगति कर सके। ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, यह स्थिति है पवित्रता के लिए, आनन्द स्वरूप, सो शास्त्राभ्यास इस जीवन में न छूटे। हर प्रकार से तत्त्वज्ञान की बात मनन में आये।

(२) वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के गुणों का स्मरण करना—दूसरा कर्तव्य है जिनेन्द्रगुणस्मरण। लोग देखते हैं, लोगों के बीच हैं, दृष्टि यहाँ जाती है, पर यहाँ के क्रियाकलाप देखने से या जीवों के अवगुण विचारते रहने से आत्मा में कुछ प्रगति नहीं हो सकती। चाहिये जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्मरण। प्रभु अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति के धारक हैं, इनका स्वरूप भी विचारें। कैसा अनन्तज्ञान? ऐसा ज्ञानविकास कि तीन लोक तीन काल के पदार्थ सब झलक जाते हैं। जो जीव सब पदार्थों को झलकने की चाह करते हैं सब बातों का ज्ञान हो जाय, क्या होता है आगे, इसका भाव बढ़ेगा, घटेगा तो बड़ा लाभ प्राप्त कर लेगा। ऐसा सोचने वाले के ज्ञान का विकास नहीं होता। प्रभु का ज्ञान का विकास है तो वहाँ रंच भी विचार, क्षोभ, रागद्वेष, कुछ करना है, ऐसी कुछ भी बात नहीं है। इसीलिए तीन लोक तीन काले का सब कुछ झलकता है। सो जैसा अनन्तज्ञान प्रभु के है वैसा ही मेरे में शक्तिरूप से पड़ा हुआ है, ऐसा मैं हो सकता हूँ। स्वरूप एक ही समान है। जो प्रभु है सो मैं हूँ। जिनेन्द्र के गुणों का स्मरण पापरस को नष्ट करता है पुण्यरस को बढ़ाता है, धर्ममार्ग में लगाता है। तो दूसरा कर्तव्य है श्रावक का कि वह जिनेन्द्र गुण का स्मरण करे।

(३) संसारशरीर भोगनिर्विण्ण श्रेष्ठ पुरुषों की संगति करना—श्रावक का तीसरा कर्तव्य है सञ्चन पुरुषों के साथ संगति करना। सज्जन पुरुष वह कहलाता है जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है और अपने आत्म स्वरूप की दृष्टि रखता है। संसार से छुटकारा पाने का जिसका पौरुष चलता रहता है वह महात्मा सञ्चन कहलाता है। तो सदा आर्य पुरुषों के साथ संगति रखना यह ध्यान में रहना। कर्मोदय ऐसा है जीवों के कि कुसंगति में तो जल्दी लग जाता है जीव, और बहुत प्रिय लगते हैं कुसंग, क्योंकि विषयकषाय पुष्ट होते हैं कुसंग में और यह जीव सदा रागी द्वेषी मोही विषयकषायों को चाहता ही है। पर कुसंग का कैसा खोटा परिणाम है कि व्यसनों में लग जाय तो वह धन की हानि कर दे। कहीं ऐसी कषाय जग जाय कि अपने ही हाथ से अपने परिजन का घात कर दे। कैसी-कैसी विडम्बनायें बन जाती हैं कुसंग से, जिनसे जीवों का अकल्याण हो, पतन हो, खोटी दशा हो वह सब कुसंग का फल है। यदि घर में कुटुम्बीजन अज्ञानी है, मोही

है, विषयकषायों के प्रेमी हैं तो घर में भी वह कुसंग ही है। घर में पूरा धार्मिक वातावरण हो तब तो बुराई नहीं हो पाती, किन्तु धर्म से विमुख है घर के लोग, विषयकषायों के प्रेमी हैं तो भी वे ऐसी ही बात कहेंगे और रोज-रोज कहेंगे सुनते रहेंगे तो परिणामों में निर्मलता आ ही जाती है। कुसंग लाभ भला नहीं है इसलिए यह व्रती श्रावक यह भावना करता है कि सदा ही मुझे आर्य पुरुषों की संगति प्राप्त हो।

(४) गुणवन्त पुरुषों की कथा करना—चौथी भावना है—गुणवान पुरुषों के, सच्चरित्र पुरुषों के गुणों के समूह में कथा की जाती रहे। मैं दूसरों के गुणों को बखानूँ। उनके बड़े पाप का उदय है जिनको दूसरों के दोष ही दोष दिखते हैं, क्योंकि जब दोष ही दिखे तो वह स्वयं दोषी है। दोष का प्रेमी है तब दूसरों के दोष ही दोष पर दृष्टि जाती है। और जब दोष पर दृष्टि गई तो खुद के उपयोग में तो वह दोष का फोटो आ गया। दोषाकार ही ज्ञान बन गया, यह तो तत्काल नुकसान हुआ। किसी के दोष की कहानी न कीजिए। दूसरे की निन्दा करना यह बहुत बड़ा अवगुण है, निन्दक का सारा ढचरा बिगड़ जाता है, बुद्धि में बल नहीं रहता, वचन में ओज नहीं रहता, मन में अच्छी बात नहीं समा पाती, तब फिर सोचिये तो सही कि परनिन्दा से मेरा अटका क्या है? न मेरी उसमें उन्नति है बल्कि अवनति ही अवनति है। सो यह व्रती पुरुष भावना करता है कि सच्चरित्र पुरुषों में गुणों की कथा ही मेरी जिह्वा से निकले, गुणों की कहानी कहेंगे, गुणों की दृष्टि रखेंगे तो स्वयं में भी गुणों में विकास चलेगा। हे प्रभो, मेरी सदा गुणों पर ही दृष्टि बने ऐसी भावना और प्रयोग सम्यग्दृष्टि के चल रहा है।

(५) परदोषकथन में मौन रहना—५वीं भावना है 'दोषवादे च मौन' दूसरों के दोष कहने में मेरा मौन भाव रहे। दोष कहने से कितना नुकसान है, पहले तो यह ही ज्ञान दूषित हो गया, इस पर दोषों का फोटो छा गया, दोषाकार बन गया, लो यहीं से अंधेर नगरी चली अब। फिर दोष जब चलेंगे तो लोग कहेंगे कि यह बड़ा ओछा आदमी है। यह दोष ही दोष बखानता रहता है। इसकी निरन्तर दोष ही दोष पर दृष्टि रहती है। तीसरी बात—जिसके दोष कहा जायगा वह शत्रु बन जायगा और उसके जितने मित्रजन होंगे वे भी बुरी निगाह से देखने लगेंगे। तब जीवन में विपत्तियां बिछ जायेंगी। दूसरे के दोष कहते समय दिल कंप जाता है यह सबको अपना-अपना अनुभव होगा। दूसरों का गुण कहते समय चित्त में उमंग हर्ष रहता है। दोषवाद में कितना नुकसान है उस सिलसिले से अगर झगड़ा बढ़ जाय तो मारपीट जेल सब कुछ हो जाता है। व्रती श्रावक की भावना है कि मेरा दोष वाद में मौन भाव रहे। मनुष्यों को जो जिह्वा मिली है सो कितनी श्रेष्ठ मिली है। अन्य जीवों पर दृष्टि डालकर देखें, अनन्तकाल तो इस जीव को जीभ ही नहीं मिली। एकेन्द्रिय रहा, पृथ्वी आदिक रहा, निगोद रहा और दोइन्द्रिय बना, और जीभ मिली तो केचुवा जोंक ये प्राणी तो यहाँ दिखते ही हैं। उनकी जीभ का कितना मतलब होता है? क्या बोल सकते हैं? आवाज भी कैसी कि जिसका कुछ पता भी नहीं पड़ता। होती तो होगी आवाज, हवा तो निकलती हीं है पर उस जीभ से क्या मिला जिसको वाणी नहीं मिली। यह ही हाल दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय का है, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव का है। कुछ बोल ही नहीं सकते। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को जिह्वा मिली तो देख लो घोड़ा, गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता आदि जानवरों की कैसी बोली है—कहीं बांय-बांय कर रहे, हिनहिना रहे, मिनमिना रहे, उनके कहाँ ठीक-

ठीक वचन निकला करते हैं? एक मनुष्य को ही ऐसा जिह्वा मिली कि वचन बोले जा सकते हैं, जिन वचनों का वाच्य अर्थ है, लोग उस अर्थ को जानते हैं, इतनी श्रेष्ठ यह स्थिति है, और यहाँ हम इस जीभ का सदुपयोग अगर नहीं करते तो फिर यह परिणाम होगा कि मानों कर्म विधाता ने यह देखा कि इसको जीभ की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह इसका दुरुपयोग कर रहा है तो अब इसे जीभ न देना चाहिए, अर्थात् एकेन्द्रिय बन जायगा। बहुत बड़ी सावधानी रखना होती है वचन बोलने की और जीवन में यह अभ्यास बनाइये कि बोलिए कम और सुनते जाइये सब कुछ। विचारिये और जब बोल निकले तो ऐसा निकले कि दूसरों को भी शान्ति हो। तो यह ब्रती श्रावक मनन कर रहा है अपने कर्तव्य कि किसी के भी दोष कहने में मेरी जिह्वा न डोले। मौनभाव रहे।

(६) प्रिय हित वचन ही बोलना—सभी जीवों के प्रति प्रिय और हित वचन बोलूँ। दूसरे जीव मेरे ही स्वरूप के समान भगवन्त स्वरूप हैं, उनको देख करके तो भौतर प्रसाद हो जाना चाहिए। यह भगवत्स्वरूप है, किसी भी जीव को देखो मनुष्यों की तो बात क्या पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय जीव पेड़ पौधे, इनको देखकर एक बार चित्त में यह तो विचार लावें कि यह भगवत्स्वरूप हैं। इसका आत्मा ज्ञानमय है, चैतन्यस्वरूप है। जो प्रभु का स्वरूप है सो इनका स्वरूप है, जिससे आप वचन बोलें उसके प्रति तो यह सोचना ही चाहिए एक बार कि यह भगवत्स्वरूप है, जीव है, इसमें कोई अपराधी बनता है तो वह कर्म का उदय है, ऐसी ही छाया पड़ी, झांकी हुई, बात बन गई, पर जीव स्वयं तो अविकार और निरपराध है। ऐसा चिन्तन करके फिर आम बात बोलें वे प्रियहित वचन निकलेंगे।

(७) आत्मत्त्व में भावना—७वीं भावना—जो समस्त भावनाओं का उद्देश्यरूप है, प्रयोजनरूप है वह है आत्मतत्त्व की भावना होना। मैं क्या हूँ, स्वयं क्या हूँ, सहज क्या हूँ। बिना दूसरे के सम्बंध के मैं क्या हूँ? अपने आपके सत्त्व से मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ। प्रतिभास आनन्द यह निज का स्वरूप है। प्रतिभास होता ही रहे ऐसा यह सर्व द्रव्यों का राजा है आत्मा। सब द्रव्यों में आत्मा ज्ञाताद्रष्टा सबसे निराला यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दमय हूँ, ऐसी निरन्तर भावना होना। इस आत्मतत्त्व की भावना के प्रसाद से ही पापरस मिटता है, पुण्यरस बढ़ता है, धर्म मार्ग में गति होती है, जीवन में ये ही तो करने के काम है। यह अन्तः क्रिया होती रहे फिर तो जो होगा वह सहज ठीक ही ठीक होगा। तो अपने आत्मा की सम्हाल यह ही सबसे बड़ा अपना पौरुष होना चाहिए। तो इस सल्लेखनाधारी श्रावक के मनन चल रहा कि जीवनभर तो अच्छे आचार से रहा। अब इस मरणसमय से मेरा शुद्ध आचार भंग न हो, बोधि और सामायिक परिणाम सहित ही इस शरीर को छोड़कर जाऊं।

सहजात्मस्वरूप की उपासना की भावना—समाधिमरण का अर्थ है कि इस देह का तो वियोग हो जाय पर आत्मा का जो दर्शन ज्ञान स्वभाव है उस शील परिणाम सहित इसका इस देश से गमन हो, इसे कहते हैं समाधिमरण। और कुमरण कहते हैं उसे जहाँ संक्लेश परिणाम करके मोह ममत्व रखता हुआ देह से गमन करता है। सल्लेखनाधारी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैंने अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल कुमरण किया, जिसके फल में कुयोनियों में जन्म लेकर दुःख ही पाया। अब हे प्रभु, हे वीतराग सर्वज्ञ देव, हे सहज

आत्मस्वरूप मेरी यही प्रार्थना है, अभिलाषा है कि मेरी दृष्टि अपने स्वभाव से न चिंगे और आन्तरिक प्रसन्नता के साथ इस देह से विदा होऊँ, और अच्छा हो कि मरण समय में वेदनायें न हों और हों तो तत्त्वज्ञान के बल से, उनका मेरे अनुभव न बने, मैं तो केवल एक सहज चित्रकाशमात्र अपने भगवत् आत्मा को ज्ञान में लिए हुए हूँ। इस ही की आराधना करता हुआ इस देह से प्रयाण करूँ। मेरे को रत्नत्रय का लाभ हो और समाधि का लाभ हो। एतदर्थं अब उस वीतराग सर्वज्ञ के गुणों का ही स्मरण करता हूँ और निश्चयतः मैं अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्व की उपासना करता हूँ।

कमिकुलकलित देह के वियोग में ज्ञानी के विषाद का अभाव—इस देह से अलग होने का विषाद क्यों? यह देह कोई सारभूत चीज है क्या? सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरा हुआ यह देह है। यह देह हाड़ मांस मज्जा आदि का पिण्ड है। इसके ऊपर की सजावट का पलस्तर और चमड़े का रंग रोगन इनको यदि न देखा जाय तो भीतर क्या निरखने में आएगा? जैसे कि शमशान में पड़ी हुई हड्डियों को जोड़कर एक ढांचा बना दिया जाए ऐसे जर्जर सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे हुए इस देह पिंजरा में मेरे को ममता नहीं है। इसका वियोग होता है तो मेरे को कोई भय नहीं है। यह शरीर पौद्गलिक है। मैं ज्ञानशरीरी हूँ। मेरा स्वयं का विग्रह (शरीर) ज्ञान है। ज्ञान को शरीर की उपमा देना तो भला नहीं है, पर ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, बोडी है यह अभिप्राय जानना। शरीर तो उसका नाम है शीर्ण होवे, गले, उसका नाम है शरीर और बोडी नाम है उसका जो इसका आत्मभूत हो। वही वस्तु जिससे वह निर्मित है जिसे कह दीजिए विग्रह। इसका तो ज्ञान ही विग्रह है। काय, देह, शरीर और विग्रह इम के चार नाम है। काय तो कहते हैं उसे जो संचित हो, पुद्गल परमाणुओं का संग्रह हो उसे कहते हैं काय। जो बढ़ता रहे उसे कहते हैं देह। जो गले सड़े, जीर्ण हों उसे कहते हैं शरीर, और जिसका विशेष रूप से ग्रहण हो उसका नाम है विग्रह। मेरा काय ज्ञान है, उसी के अविभाग प्रतिच्छेदों का प्रकटपना होता है। मेरा यह ज्ञान ही देह है, इस ही के विकास की डिग्रियों का बढ़ाव होता रहता है। तो मेरा ज्ञान ही विग्रह है। याने शाश्वत अनादि अनन्त ज्ञान स्वभाव का व उसकी वृत्ति का ही ग्रहण मुझ में रहता है। ऐसा ज्ञान विग्रह वाला यह मैं आत्मा कभी मरता ही नहीं हूँ, पूर्ण सत् हूँ। जैसा हूँ वैसा ही यहाँ से उठकर चला गया। मेरे को शोक क्या? भय क्या?

मृत्युमहोत्सव में अविकार स्वभाव के दर्शन की प्रसन्नता—मरण समय में भय उनके ही होता है जिनको देह धन परिजन आदिक में ममता बसी रहती है, वे बड़े संक्लेश से मरण करते हैं। यह देह पिञ्जर विघटता है तो विघटे पर मेरा जो विग्रह है, ज्ञान है वह कभी विघट ही नहीं सकता, जिस ज्ञान में अतुल सामर्थ्य है। जिसमें सकल पदार्थ झलक जाएँ ऐसा अमृत ज्ञानमात्र ज्योति स्वरूप मैं हूँ। इसमें क्या संकट है। इस ही स्वभाव को दृष्टि में रखता हुआ मैं महाप्रयाण करूँ। अन्य प्रकार की मेरे दृष्टि न हो, मैं अविनाशी हूँ, ज्ञाताद्रष्टा रहना मेरा स्वभाव है। केवल मैं अपने सत्त्व से जो हूँ, उसका मात्र प्रतिभास काम है, जानन हुआ, दर्शन हुआ बस यह ही मेरी वास्तविक वृत्ति है। स्मैह, विषय, शोक यह मेरी वास्तविक वृत्ति नहीं है, किन्तु उदय में आए हुए कर्मों के अनुभाग की वह झलक है। जैसे जल कहीं गंदा नहीं होता। जिन जलों को हम गंदा कहते हैं उनमें जल गंदा नहीं है, किन्तु धूल कण, करकट आदि जो बाहरी चीजें उसके साथ मिल गई हैं गंदी हैं कुछ

बाहरी चीजें जल में इस तरह मिली हैं कि वह जल ही गंदा लगने लगा । पीने के काम का ही नहीं मगर स्वरूप देखिए तो जल कभी गंदा नहीं होता । जल-जल ही है, जल के साथ जो कलमसता है वह अन्य वस्तु की है । दर्पण स्वयं अपने आप किसी के फोटो रूप नहीं है । मगर इसका स्वभाव है फोटो, तो वह स्वभावतो रहा आया मगर ठीक फोटो न झलके याने कांच गंदा हो, दर्पण गंदा होने पर और तरह से झलके, मलिन झलके, तो उस दर्पण के साथ कोई परवस्तु उपाधि लगी हुई है, तेल चिपक गया हो या कांच के भीतर ही बनते समय कोई दूसरी वस्तु आ गई हो या कुछ पोलसी हो गई हो कुछ ऐब है तब बुरा झलकता है, ऐसे ही आत्मा के साथ कोई ऐब लग गया पर उपाधि लगी है इस कारण से रागद्वेष कल्पना आदिक होते हैं ।

स्व व पर के भेदविज्ञान का महाबल—मैं स्वयं अपने आपके सत्त्वमात्र हूँ । जैसे हंस मिले हुए दूध पानी में दूध को ही ग्रहण करता पानी को छोड़ देता उसकी चोंच में ऐसा गुण है कि मिले हुए दूध पानी में चोंच के पड़ते ही पानी अलग हो जाता दूध अलग हो जाता । जैसे कि अन्य कई वस्तुएँ हैं ऐसी कि मिले हुए दूध पानी में डाल दें तो दूध अलग होता पानी अलग हो जाता । और कुछ तो ऐसा होता ही है जैसे गरम दूध में नींबू डाल दिया तो पानी अलग हो जाता । दूध गाढ़ा होकर (जमकर) अलग हो जाता और भी कई वस्तुएँ ऐसी हैं कि उस मिले हुए दूध -पानी में डाल दी जाएँ तो पानी अलग हो जाए दूध अलग, हो जाए । जो तारीफ उस वस्तु में है वही तारीफ हंस की चोंच में है । भेद विज्ञान हो गया । अब वहाँ जो उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण करना, जो हेय तत्त्व है उसको छोड़ देना । मेरी कल्पना में राग और ज्ञान मिला जुला है । वहाँ भी राग का स्वरूप राग में है ज्ञान का स्वरूप ज्ञान में है स्वरूप नहीं बदल गया पर ऐसा मिश्रण हो गया कि उस रूप न ज्ञान रहा, न उसका रूप रंग रहा किन्तु कल्पनारूप बन गया । उस कल्पना में उस तत्त्वज्ञान के बल से राग और ज्ञान को जुदा निरख रहा हूँ । सो मैं ज्ञान को ग्रहण करता हूँ राग को छोड़ता हूँ । मुझ आत्मा में और इस देह में अत्यन्त अन्तर है । बिल्कुल विपरीत है। देह पौद्गलिक है, हाड़, मांस का पिण्ड हैं। यह मैं आत्मा ज्ञानरूप हूँ, अविनाशी हूँ, देह विनाशीक हैं, बिखर जाएगा इसमें आग भी लग जाती, मैं अविनाशी हूँ, मैं बिखरता नहीं, मुझ में आग नहीं लगती । अत्यन्त उल्टी दोनों चीजें हैं मैं और देह । तो इस देह के मिटने का भय क्या? मैं अपने आपके स्वरूप में हूँ ।

जीर्णशीर्ण दुर्गम्भित कुटी को त्यागकर नवीन सज्जित कुटी में पहुँचने में प्रसन्नता का ही अवसर—जैसे कोई मुसाफिर रेलगाड़ी में किसी के मना करने पर कि यहाँ मैं बैठा था पहले, तो पास में दूसरी सीट खाली होने पर वह उठकर दूसरी सीट पर बैठ जाता है । आयुकर्म का तकाजा है कि अब आप इस सीट पर न बैठिए, यह सीट गंदी हो गई । बुढ़ापे से यह जर्जर सीट हो गई, आप इस नई सीट पर जाइए, हम आपके लिए तैयार रख रहे हैं, तो उस जीव को वह पुरानी गंदी सीट छोड़कर नई सीट पर जाने में क्या तकलीफ? रेल में आपकी सीट के पास बैठे हुए किसी बच्चे ने मानो टट्टी पेशाब करके आपकी सीट को गंदा कर दिया तो उस बच्चे की माँ आप से कहती है कि आप उस सीट पर आ जाओ, आपकी यह सीट गंदी हो गई तो बताओ वहाँ क्या आप उससे लड़ते हैं कि मुझे तो मेरी ही सीट चाहिए, यह न चाहिए? नहीं लड़ते । वहाँ तो आप खुशी-खुशी से उस सीट को बदल देते हैं । तो ऐसे ही जब कोई मान लो समझा रहा कि अब तेरा यह शरीर जीर्ण

शीर्ण हो गया, गंदा हो गया इससे बदबू आने लगी, अत्यन्त रुग्ण हो गया, इसको कोई देखता है तो डरने लगता है, तेरे को नया शरीर दिया जा रहा है, इसे छोड़, और उस समय कोई यदि यह कहे कि मैं नहीं किसी की सुनना चाहता मैं तो इसी शरीर में रहूँगा तो बताओ यह उसकी बेवकूफी है कि नहीं? अरे क्यों व्यर्थ में इस शरीर से ममता करते? यह लोक तो ३४३ घनराजू प्रमाण विस्तृत है। अगर सांसारिक वैभवों की चाह है, उनकी प्रीति नहीं छूटी तो यहाँ का वैभव न सही, अगले भव में मिल जाएगा। उसमें भी टोटा क्या?

समाधिमरण में ज्ञानी का विशेष पौरुष—मरणसमय भी वैभव की आकांक्षा कोई रखे तो वह तो उसका कुमरण है। अरे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति जैसी विभूति का भी तो ख्याल कर। ये अत्यन्त भिन्न पौद्गलिक पदार्थ हैं जिनके संसर्ग से तेरा घात हो रहा। तू उसको क्यों चाहता? मैं चाहूँगा, मैं तो अपने अनन्त ज्ञानादिक के स्नोतरूप सहज कारण परमात्मतत्त्व की उपासना करूँगा। यह तो मरण महोत्सव है। इस मरणकाल में उसका आगे के सारे भविष्य का फैसला होना है। जीवनभर तो पाठ याद किया और परीक्षा के समय पागल हो गया तो यह उसका खोटा ही भवितव्य है। ऐसे ही इस जीवन में सारे जीवन तो खूब ब्रत तप निभाया और मरण समय में मोह मदमत्त होकर पागल हो जाऊं तो समझो कि मेरा सारा भविष्य खोटा रहेगा। यह परीक्षण का समय है। बच्चे लोग परीक्षा के समय और अधिक तैयारी रखते हैं। तो यहाँ भी मरण समय में, जीवन में जो सावधानी बरती उससे भी अधिक सावधानी यहाँ मृत्यु महोत्सव के समय रखना है। यह मृत्यु महोत्सव मुझे प्राप्त हुआ है तो इसमें भय किस बात का? मैं स्वरूप में स्थित होता हुआ अन्य देह में स्थित हो जाऊंगा।

स्वयं से ही स्वयं के हित की अभ्यर्थना में लाभ—सारा क्लेश मोह का है। दूसरों से प्रार्थना करना कि मुझे कष्ट न देना, मुझे सुख देना, मुझे शान्ति दिलाना और प्रार्थना करना उनसे जिन में मोह बसा है तो यह कैसी बेजोड़ यात्रा है, जैसे किसी रथ में हाथी और गधा दोनों को एक साथ जोत दिया जाए तो रथ न चलेगा ऐसे ही मैं चाहता हूँ कि मुझे शान्ति मिले समाधि मिले, उत्तम परिणाम से मरण करूँ और वह चाहूँ मैं अपने कुटुम्ब से, परिजन से, तो यह बात क्या संभव है? कठिन है। जैसे काजल की कोठरी में कितना ही सयाना जाए पर काजल की एक न एक कोर लग ही जाएगी ऐसे ही घर के कुटुम्बीजनों से समाधिमरण की अभिलाषा रखें कि ये मेरा सारा काम बना देंगे तो बड़ा मुश्किल है। घर के लोग सुना रहे हैं—भाई क्या सुना रहे हैं? वैराग्य की बात, और यह घर का आदमी सुन रहा है और मन में सोच रहा है कि मेरा मुत्रा सुना रहा है वैराग्य की बात। अरे मेरी मुत्रा, यह तो बीच में लगा हुआ है। वैराग्य की बात कहाँ से आयगी? तो उस समय सम्बंध रखें त्यागीजनों का, श्रावकों का, अन्य जनों का, बाहर से आए हुए पुरुषों का। कुटुम्बीजनों से धर्मध्यान सुनने का क्या अर्थ है? उतना ही जैसे कि पति पत्नी मिलकर भगवान की पूजा करते हैं। पूजा कर रहे हैं, भीतर लगाव लगा है कि मैं पत्नी सहित पूजा कर रहा हूँ, रागभाव तो निरन्तर लिए हुए हैं। पूजा कहाँ हो रही? तो उसकी करतूत भी सामने नजर आती। जब फल का छंद पढ़ेंगे तो खुद की रकेबी में रख लिया काला कमलगटा और स्त्री की रकेबी में धरेंगे बादाम। यह करतूत भी सामने नजर आ रही कि कितना रागवश पूजा कर रहे। जो हालत वहाँ है वही हाल समाधिमरण का है जो अपने ही परिजनों से धर्मश्रवण सुनना चाहता है

। यद्यपि आवश्यक यह भी है कि अपने परिज्ञन से धर्मश्रवण करेंगे मगर उसका फल इतना ही है कि यह तो चाह रहा है कि इनसे ममता त्यागें । उनकी ओर से भी सहयोग मिल रहा कि ममत्व त्यागें पर ऐसा होते-होते भी कभी-कभी राग हो बैठेगा । उन श्रावकों का महाभाग है जिनको परिज्ञन तो दें मौका कि समाधिमरण होने दो और साधुजन विद्वज्जन समाधिमरण का सम्बोधन रखें, उनका समाधिमरण सुगम होता है ।

सल्लेखनाधारी का भविष्यविषयक मंगलचिन्तन—सल्लेखनाधारी चिन्तन कर रहा है कि जैसे कोई टूटी-फूटी कुटी से निकलकर नए महल में जाता है तो बड़े उत्सव के साथ जाता है, ऐसे ही यह मैं आत्मा जीर्ण शीर्ण शरीर से निकलकर एक नए देह में जाता हूँ तो मेरा इसमें नुकसान क्या है? वह चित्त में प्रसन्नता के साथ उत्सव के साथ जाता है । प्रसन्नता महोत्सव के साथ मरण हो तो जो वैभव यहाँ पाया है उससे कई गुना वैभव वहाँ मिलेगा । इसकी परवाह क्या करता? यहाँ के समागमों में ममता क्यों रखता? और यहाँ के समागमों में ममता रखता हुआ मरण करेगा तो न यहाँ रहना, न आगे मिलेगा । यदि मैं अपने ज्ञायकस्वभाव में ठहरता हुआ, दूसरों से ममत्व तजता हुआ परलोक जाऊंगा तो धातु उपधातुरहित देह में पहुँचूँगा जहाँ कि अनेक देव पहले से ही आदर स्तुति करने के लिए खड़े होंगे । जैसे यहाँ कोई पुण्यवान बालक उत्पन्न होता है, गर्भ से निकलता है तो ढोल मंजीरा गान तान ये अनेक उत्सव होने लगते हैं तो ऐसे ही देवगति में भी पुण्यवान जीव उत्पन्न होते हैं वहाँ भी अनेक देव खड़े होकर उसकी प्रशंसा करते हैं और वह अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना को पहले जाने का भाव रखता है तो उसके साथ वे यात्रा करते हैं । सो समाधि सहित मरण होगा तो वैक्रियक देह में देव होऊंगा, महान् ऋद्धि धारक देव देह पाऊंगा और जो भय करके, ममता करके यहाँ का मरण बिगड़ा तो एकेन्द्रिय आदिक के शरीर में जाकर मैं जड़वत् हो जाऊंगा । अब कुछ ही मिनटों में फैसला होने वाला है । बताओ आपको देव बनना प्रिय है या एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जीवों में उत्पन्न होना प्रिय है? यहाँ मोह ममता करने का तो फल है पेड़ पौधा आदिक बनना और यहाँ का ममत्व छोड़कर अपने सहज आत्मस्वरूप की आराधना सहित मरण करें तो वहाँ दिव्य देह में उत्पन्न होना होगा । इन समस्त समागमों को पर जानकर मैं उनसे ममत्व तजता हूँ । सल्लेखनाधारी भलीभाँति सर्व कुछ वस्तुस्वरूप विचारकर सर्व से विरक्त होकर सहज आत्मस्वरूप में ही मग्न होता हुआ संतोष पाता है । ममत्व के त्याग का भी एक बड़ा सुन्दर अवसर है । ऐसे अवसर में मैं सर्वपरपदार्थों का लगाव छोड़कर अपने सहज अमूर्त चैतन्य प्रकाशमय परमात्मतत्त्व में ही रमता हूँ । अन्य कुछ वृत्ति बनाना मेरे लिए लाभकारी नहीं है ।

मृत्युमित्र के उपकार का विचार—जीवन में भले प्रकार व्रतों का पालन कर यह व्रती श्रावक मरण समय में चिन्तन कर रहा है । यह जो आज मृत्यु का अवसर आ रहा है जो बड़ा मित्र है । जो मैंने जीवन में अनेक व्रत तपश्चरण किया सो उन किए हुए पुण्य कार्यों का फल इस मृत्यु मित्र के बिना प्राप्त नहीं हो सकता । करणानुयोग के अनुसार जो आयु बंध गई है, जो पुण्यकर्म बांधे हैं, जिनका फल देवगति में मिलता है, अन्य सुगति में मिलता है तो वह फल तब ही मिल पाएगा जब मरण होगा और इस जीर्ण शीर्ण गले शरीर से निकालकर यहाँ के दुःखों से जो छुटकारा दिलाएगा वह मृत्यु मित्र ही तो है । जीवन में ६ काय के जीवों की हिंसा ठालकर प्रवृत्ति की । धर्मबुद्धि से अनेक सदाचारों का पालन किया । सत्य वचन पर डटे रहे, चाहे कितने

ही कष्ट सहे, पर असत्य कभी बोला नहीं, पर धन का लोभ करके उसे कभी छुआ नहीं, परनारी, परस्ती को निरखकर कभी कामभाव किया नहीं। और परिग्रह में तृष्णा नहीं की परिग्रह परिमाण किया, संतोष किया, ऐसे कर्तव्य से जो पुण्य बांधे उसका फल मृत्यु मित्र बिना कौन दिखा सकता है? कुछ समय की ही तो बात है, जल्दी ही सुख सम्पदा में और धार्मिक वातावरण में हमारी स्थिति होगी, फिर इस मरण का भय क्या है? इस समय यदि आर्तध्यान रौद्रध्यान परिणाम होगा तो नरकगति, तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होकर अनेक दुःख भोगने पड़ेंगे। सो अब उस धनसम्पदा में परिजन में परिग्रह में ममत्व छोड़कर चिन्तामणि कल्पवृक्ष के समान इस समाधिमरण को न बिगाड़ँ। मैं अपने स्वरूप को निहारता हुआ इस शरीर से प्रयाण करूँ।

विविध कष्टप्रद देह से छुटकारा में विषाद का अनौचित्य—यह सल्लेखनाधारी श्रावक चिन्तन कर रहा है कि इस भव में गर्भ से लेकर अब तक कष्ट ही भोगा कल्पना से। पर सारे जीवन में पाया क्या? कष्ट। और मोह के वश होकर उन कष्टों में ही राजी रहा और मोह न छोड़ सका। गर्भ में कितने कठोर दुःख। कितने से पेट की छोटी जगह में बंध करके रहना, हाथ, पैर, सिर, अंग आदिक बनने पर भी चिपका हुआ औंधे मुख बना रहना, मां ने जो खाया पिया उसका उसही रस की नली से आहार हुआ। कैसे दुर्गन्धमय स्थान में इन ९ महीने रहना पड़ा। फिर जब गर्भ से निकले तो उस समय का दुःख मरण के दुःख से कम नहीं होता, पर और लोगों को क्या पता? और लोग तो गाजे बाजे नाच में ही उमंग सहित हर्ष मनाते हैं। पर जो बच्चा गर्भ से निकल रहा वह कितना कष्ट पा रहा है इसका अनुभव तो उस बालक को ही होता है। गर्भ से निकलने का भी बड़ा दुःख है। जैसे कि देखा ही करते हैं यहाँ, कुछ चेतना सही नहीं, सावधानी नहीं, समझ का विकास नहीं। कुछ बड़ा हुआ तो अनेक कल्पनाएँ करके दुःख मानने लगा था। जो इष्टवस्तु चाहिए वह न मिले तो कष्ट, यह इतने में भी कष्ट मानता रहा, यदि मां की गोद में चढ़ा हुआ हो और नीचे बैठाल दिया गया तो वह रोने लगा। मानों उस बच्चे ने बड़ा अपमान महसूस किया कि कहा तो ऊँचे चढ़े हुए थे और कहाँ मुझे नीचे पटक दिया, अनेक प्रकार के दुःख हैं, जहाँ कुछ होश नहीं, जहाँ चाहे मलमूत्र कर दिया, गंदी चीज भी मुख में डालने को तैयार हुए, ऐसे कठिन दुःखों में समय बीता। कुछ और बड़े हुए तो मां बाप स्कूल में पढ़ाने को ले गए। यह पढ़ना नहीं चाहता, घर में पिटाई होती, स्कूल में पिटाई होती अथवा कुछ होशियार है तो भी खेलना बचपन में बहुत पसंद होता, उस खेल में बाधा आती है, वहाँ कष्ट मानने लगते हैं। फिर विद्याध्यन के कष्ट, दूसरे की डाट के कष्ट। चाहे अपराध भी नहीं किया उसमें फिर भी उसका बाप जरा-जरासी बात में द्वन्द्वला जाता, और थोड़ा बहुत अपराध बन गया तब तो डाट ही डाट पड़ती है। उसका दुःख भोगा। जैसे-जैसे बड़े होते गए वैसे ही वैसे विकार भाव के कारण दुःख और बढ़ते गए। बड़ा हुआ और मानों गृहस्थी बसी तो अब विकल्पों की जाति बदलने लगी, और भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करके जरा-जरा सी घटना पर वह खेद मानने लगा। जीवन भर ही दुःख पाया है।

सन्तानोत्पत्ति के संदर्भ में कष्ट का चित्रण—पंडित आशाधरजी ने एक चित्रण किया है। जिस समय इस पुरुष की स्त्री के गर्भ रह गया तो कितना कष्ट है उस बच्चे के कारण कि आते ही उसने इस पुरुष की प्रिय स्त्री का रूप बिगड़ डाला। स्त्री दुर्बल हो गई, बेढ़ंगी हो गई, रूप बिगड़ गया, यह बच्चा गर्भ में आया तो है, पर

इसकी कितनी निर्दयता है अपने माता-पिता पर, इसका चित्रण किया है। जब गर्भ के दिन करीब-करीब पूरे हो गए तो उन दिनों उस बच्चे के माता पिता अत्यन्त चिन्तित हो जाते कि पता नहीं अब कैसे क्या होगा? ठीक-ठीक काम निपट पाएगा या नहीं। कहीं कोई कठिन घटना तो न बन जाएगी, यों दुःख मानते रहे उस बच्चे के माता-पिता। जब वह बच्चा उत्पन्न हो गया तो उसकी सम्हाल में अनेक-अनेक प्रकार से दुःख मानते रहे। जब वह बच्चा बड़ा हुआ और उसकी भी शारीर हो गई तो उसने माता पिता से दृष्टि हटा ली, क्योंकि उसका उपयोग अब बदल गया। उस समय भी माता-पिता को-दुःख। और बड़ा होकर कही किसी बातपर घटना लेकर वह दुश्मनसा भी बन जाए। तो इस जीव ने मनुष्यभव में आकर कष्ट ही कष्ट भोगा। जैसे तैसे जीवन निकला, बुढ़ापा आया तो उस बुढ़ापे का प्राकृतिक कष्ट। तो ऐसी कष्ट वाली पर्याय से निकलकर नवीन देह में पहुंचेंगे और धर्म पुण्य के प्रसाद से स्वर्ग में पहुंचेंगे, तो बताओ इस मृत्यु से घृणा करना चाहिए या उसके अवसर में उमंग लाना चाहिए?

देहबन्धन के कारण ही हुए पराधीनता, परिश्रम, व्याधि आदि के दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय स्वाधीन विश्रान्त रोगरहित अविकार चित्तस्वरूप का उपयोग—यह सल्लेखना ब्रतधारी अपने आप में मनन कर रहा है कि इस कर्मविपाक ने, इस शत्रु ने मुझे ऐसा संसार में पटक रखा हैकि मैं इन्द्रिय के वश होकर नाना प्रकार के दुख भोग रहा हूँ। नाना प्रकार के भूख प्यास आदिक की वेदनाएँ कितनी कठिन हैं। कोई वेदना आ जाए तो चलो एक से तो निपट लिया मगर एक दिन में कई बार उससे निपटना पड़ता है। यह क्या कम दुःख है मगर यह मोही जीव वहां ही मौज मानता हैकि मैंने अच्छा खाया। श्वासोच्छ्वास जो निकलता है वह क्या सुख का कारण है? वह भी दुःख का कारण है। यह कब पता पड़ता कि यह ही श्वास जरा जल्दी-जल्दी निकलने लगे तो मालूम हो जाता कि कितना कष्ट है। अच्छा और धीरे निकल रहा तो थोड़ा कष्ट है, कोई सुख के संकेत नहीं है ये सब। फिर एक पेट भरने के खातिर कितना पराधीनता का संगम बनाया जाता है। मित्रजन बनाएँ, परिजन बनाएँ, कुटुम्बीजन बनाएँ, ये अनेक व्यवस्थाएँ बनाते हैं एक पेट भरने के लिए। और यही तब तक चलता रहता है जब तक कि शरीर और कर्म से मुक्ति न मिल जाए। तो यह संसार रहने के काबिल नहीं है और इस संसार से छूटने का उपाय है तो केवल यही हैकि संसाररहित अविकार स्वभाव वाले अपने सहज आत्मस्वरूप की आराधना रखें कि मैं यह हूँ। बाहर में अन्य कुछ भी होता रहे, वह बाह्य की परिणति है। मैं अपने आप में अपने ही स्वरूप को भोगता रहूँ। जीवन के दुःख देख लो व्यापार किया, खेती की, बड़ा कष्ट उठाया, ऋतुवें बदली ठंड के दिनों में ठंड के कष्ट उस समय यह मनुष्य कह उठता है कि इससे तो गर्मी अच्छी है। गर्मी के दिनों में गर्मी के कष्ट, उस समय यह मनुष्य कह उठता है कि इस गर्मी से तो सर्दी अच्छी होती है। बरसात के दिनों में घिनावनासा लगता, वहाँ भी कष्ट मानता और फिर इस जीवन में पर के अधीन होना पड़ता है। तो इस समय ऐसे बड़े कष्ट से यह मृत्यु राजा हम को निकालने आया है तो इस समय उमंग रखना चाहिए कि भला अवसर मिल रहा है।

कृतघ्न देह का पक्ष लेने में विमुग्धता का प्रकाशन—यह देह तो बड़ा कृतघ्न है। इसकी कितनी ही सम्हाल करते हैं भोजन से, आराम से, लेकिन यह देह क्या मन को शान्ति पहुंचा देता है? यह तो आकुलता में ही

बढ़ाता है, राग को ही उत्पन्न करता है। यह देह कृतघ्न कहा गया है, इसकी बहुत सेवा की। इस देह को अच्छी तरह उठाया बैठाया, खिलाया, पिलाया, स्नान कराया, निद्रा लिवाई, अनेक आराम के साधन जुटाया, बड़े अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहिनाए, रात दिन इस शरीर के ही दास बने रहे, और इसकी सेवा करते हुए मैं अपने भगवान् आत्मा को त्रास ही देता रहा। इतना तो मैंने इसकी सेवा की और अब यह देह भय दिला रहा। आत्मा को भुला रहा है। ऐसे कृतघ्न देह से कौन निकाल सकता है? जो इन सबसे बड़ा बलवान हो, ऐसा बलवान राजा है मेरी यह मृत्यु। सो अब उस ज्ञान सहित अपने आपके स्वरूप की सुध रखते हुए धर्मध्यान सहित, संक्लेश रहित होकर मरण करूँ तो मैं भविष्य में इन दुःखों का पात्र न रहूँगा। इस कारण यह समाधिमरण मेरे को शरण है। यह देह समस्त दुःखों का देने वाला है। दुःख तो निश्चयतः यह जीव ही अपने आपकी कल्पना से पाता है, अगर केवल जीव हो इसके साथ, शरीरादिक उपाधि न हो तो क्या इसकी कल्पना जग सकती है? कभी नहीं जग सकती तो इस कल्पना में सहयोगी यह देह बन रहा है। तो सर्व दुःखों को प्रदान करने वाले इस शरीर पिण्ड को दूर करके जो सुख सम्पदा दिलाने का कारण बन रहा है वह मृत्यु मित्र ही तो है। इस मृत्युमित्र के प्रसाद से भविष्य स्वर्ग सम्पदावों में बीतेगा धार्मिक वातावरण में बीतेगा। पंच कल्याणकों में तीर्थकरों के साक्षात् दर्शन में मुझे विलम्ब न रहेगा ऐसे मरण से मेरे को हानि क्या है?

मृत्यु की कल्पवृक्षतुल्यता—यह सल्लेखना ब्रतधारी अध्यात्मदृष्टि से, लौकिक दृष्टि से सब तरह से चिन्तन कर रहा है और यह निर्णय पा रहा है कि मृत्यु से मेरा नुकसान कुछ नहीं है। यह मृत्यु तो कल्पवृक्ष है। जिस कल्पवृक्ष के नीचे पहुंचकर देव अथवा भोगभूमिया मनुष्य जो कुछ सोचते हैं, मांगते हैं वह सब प्राप्त हो जाता है, ऐसे ही यह मृत्यु कल्पवृक्ष है। इस अवसर में हम जो चाहें सो प्राप्त हो जाएगा, पर इस चाहने से मतलब क्या? जैसा भाव करेंगे वैसाही फल प्राप्त हो जाएगा। यदि नरकादिक कुगतियों में जाना है तो उसका मौका यही है। मरणसमय में यदि ममता करे, रोए, चिल्लाये तो नरकादिक गतियां बड़े आराम से मिल जाएगी और यदि इसे भविष्य में सद्गति प्राप्त करना है तो उसका भी यह मौका है, रत्नत्रय धर्म की आराधना करे, वस्तुस्वरूप का उपयोग रखे अपने सहज आत्मस्वरूप की आराधना करे। बाहर के सारे विकल्पों को छोड़ दे ऐसी स्थिति से मरण होगा तो भविष्य उत्तम हो जाएगा। अच्छे सुख शान्ति के वातावरण का दाता निश्चय में आत्मा ही है, पर व्यवहार में निरखिए कि यह मरण समय न आए तो किए हुए तपश्चरण का फल कैसे प्राप्त हो? अरहंत भगवान् तीर्थकर इनका भी मरण होता है, पर उनके मरण को मरण नहीं कहते। निर्वाण, पंडित पंडित मरण कहते। आखिर आयु का क्षय तो होता ही है वहतो सदा के लिए सिद्ध अवस्था प्राप्त होना, शरीर कर्ममल से रहित पवित्र बने रहना यह पंडित पंडित मरण के प्रसाद से ही तो प्राप्त होता है।

समाधिमरण में सर्वतः लाभ—यद्यपि हम यहाँ साधारण लोग हैं सकल परमात्मा नहीं हैं, सो सिद्ध अवस्था तो न प्राप्त होगी, पर सद्गावना रहे, धर्म की आराधना रहे तो जहाँ धर्म प्राप्त होता रहे ऐसी गति में, सत्संग में तो जन्म हो जाएगा, फिर वही से मनुष्य बनकर तीर्थकर होकर या अन्य चक्री आदिक होकर फिर निर्गन्ध मुनि बनकर तपश्चरण करके निर्वाण भी प्राप्त कर लेंगे। पर यदि प्रमाद करके दुर्ध्यान करके अभी ही मरण बिगड़ लिया और खोटी गति में पहुंच गए तो आगे का फिर विश्वास क्या? यह पाया हुआ समागम बहुत अमूल्य

समागम है। इसमें एक क्षण भी दुर्भाव न रखना चाहिए। जीवन बने दूसरे की भलाई का। दूसरे के द्वारा अपने को कष्ट भी पहुंचे तो भी उस जीव के सही स्वरूप का चिन्तन करके उसकी भलाई ही सोचिये। जीवन ऐसा सद्भाव में व्यतीत हो तो इस जीवन में भी यह शान्त रहता है और परलोक में भी यह शान्त रहेगा। यह मरण समय उसके लिए सुख शान्ति का ही कारण होगा, जिस मरण के प्रसाद से यह जीर्ण शरीर छूटकर सारा नवीन समागम मिलेगा। वह मरण हर्ष के लिए होगा, कठिनाई के लिए न होगा। जैसे मिली हुई सम्पत्ति की बात लोग सोचते हैं कि हमने इतनी सम्पत्ति कमायी और अब इसे छोड़ रहा हूँ, अरे इतनी सम्पदा छोड़ रहे और कुछ ही सेकेण्ड में इससे हजारगुनी सम्पदा मिलेगी तो सम्पदा से कहां छूटे? वहाँ विशिष्ट सम्पदा पायी जाएगी? किसी दृष्टि से हानि क्या है? सद्भाव से मरण होगा तो इससे लाख गुनी सम्पदा प्राप्त होगी। न कुटुम्ब की हानि है। इस कुटुम्ब को छोड़कर जाएंगे सो विनयशील आज्ञाकारी परिजन प्राप्त होंगे। यदि सद्भाव से मरण हो तब की बात है। नहीं तो दुर्धीन से यहाँ भी मरे, आगे भी मरेंगे।

आराधना सहित मरण से कल्याण का लाभ—भैया, आत्माराधना सहित मरण होता है तो यह संस्कार विग्रहगति में भी रहेगा, जन्म समय में भी रहेगा और जो स्थिति जन्म समय में आ जाती है वह जीवन में भी रहती है। पहले भव में भी पढ़ा लिखा था और पहले भव को छोड़कर इस भव में आए तो अब फिर चाहे पहले एम० ए०, डबल एम० ए० किया था लेकिन यहाँ तो फिर से ए० बी० सी० डी० पढ़नी पड़ेगी। वह सब बात कहां गई। वह सब इन्द्रिय के साथ, मन के साथ वहाँ खत्म हो गई, लेकिन यदि वह संस्कार रहा तो इस भव में चाहे ए० बी० सी० डी० से पढ़े मगर उसे विद्या झट आती है। प्रतिभा बढ़ती है, ज्ञान शीघ्र बढ़ जाता है। यह किस बात का अन्तर है कि क्लास में मानों २० छात्र पढ़ते हैं तो मास्टर सबको एकसा पढ़ा रहा है पर किसी छात्र की बुद्धि में बात जरा भी नहीं बैठती, किसी के कम बैठती, किसी के अधिक बैठती और किसी के इतनी बैठती कि जितना पढ़ाया उससे भी अधिक जानकारी कर ले। यह अन्तर है पूर्वकाल में विद्यार्जन का और धार्मिकता के संस्कार सहित आत्मदृष्टि करते हुए भव छोड़ने का। अपना शरण, अपना साथी केवल सहज आत्मस्वरूप का दर्शन है किसी दूसरे का कुछ भी विश्वास नहीं है कि वह मेरी शक्ति का कारण बन सकेगा। अपने सहज परमात्मस्वरूप की आराधना में रहे तो यह हीं मैं ज्ञानमात्र हूँ। मेरा जानन रहे इतना ही काम है और इस जानन कार्य के करते हुए जो निराकुलता रहती है वही मेरा भोग है। इससे बाहर मेरा कुछ नहीं है। ऐसा दृढ़ता का भाव जिसके रहता है उसके पवित्रता बढ़ती है। कल्याण उसका होता है। मैं इस मरण समय पर इस सहज आत्मस्वरूप की ही आराधना करूँ, इसही में उपयुक्त रहकर अन्य विकल्प करके इस शरीर को छोड़कर जाऊँ, ऐसी उमंग रहती है मृत्यु के अवसर पर ज्ञानी व्रती श्रावक की।

सल्लेखनाधारी श्रावक का समाधिमरण के लाभ का चिन्तन—सल्लेखना के समय में यह श्रावक चिन्तन कर रहा है कि इस संसार में जन्मे, जीव पाया, जीवन में नाना दुःख भोगे, फिर मरण हुआ। फिर जन्मे, ऐसी धारा कब तक चलेगी? इस धारा के मिटने में ही कल्याण है। अनेक कुयोनियों में भ्रमण करते-करते आज सुयोग से मनुष्यत्व पाया जहाँ जैनशासन मिला, जिन-वचनरूपी अमृत कर्ण पात्र से पीने को मिलते हैं, ऐसे शुभ अवसर में यदि मरण समय में किसी बाह्य पदार्थ की इच्छा रखी तो वही जन्ममरण की परम्परा लम्बी बन

जाएगी। इस जगत में मेरा कहीं कुछ नहीं है। स्वरूपमात्र हूँ ज्ञानदर्शनस्वरूप, जानना देखना जिसका कार्य और इसही कार्य के बल से आनन्द का भोगना वह ही मेरी दुनिया है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब कर्म की छाया माया है, इसमें लुभ्य होने का कारण ही कुछ नहीं। अज्ञान ही कारण होता है। मैं कर्म से निराला, देह से निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ मैं। अब मैं इस भगवन्त आत्मतत्त्व की आराधना करता हुआ ही शरीर को छोड़ूँगा।

मृत्युमहोत्स के अवसर पर शाश्वत सहज परमात्मतत्त्व के आलम्बन की शरण्यता—यह मृत्यु तो कल्पवृक्ष की तरह है। यहाँ समाधिमरण होगा तो सदा के लिए कल्याण का तन्त्र हो जाएगा। इस रुग्ण अवस्था में या बड़े कठिन उपसर्ग की दशा में जो देह की हालत बिगड़ रही है अथवा जो समय बुरा बीत रहा है तो मृत्यु ही एक ऐसा मित्र है जिसके प्रसाद से यह असाता से छूटेगा, और साता का उद्भव होगा। मैं अविनाशी आत्मा अपने आपको ही देखने वाला यह मैं सर्वत्र निराकुल हूँ। देह में कुछ भी बीत रहा हो, यह तो परद्रव्य है उसकी परिणति का मैं ज्ञातादृष्टा हूँ। मुझ में और देह में तो महान अन्तर है। मैं चैतन्य प्रकाशरूप हूँ। यह देह अचेतन है, मैं अमूर्त हूँ, यह देह पौद्गलिक पिण्ड है, मुझ आत्मा में न रोग है, न यह जलता है, न यह गलता है, न बहता है। यह देह जलता भी है, गलता भी है। मुझ में और इस देह में तो अत्यन्त विपरीतता है, फिर इस देह का ख्याल क्यों करूँ और इसका ख्याल रखकर क्यों विकल्प संकल्प करूँ? यह तो अज्ञानियों का काम है। जिन्हें आत्मा की कुछ सुध नहीं है और देह को ही आत्मसर्वस्व मान रखा है, उनको ही संक्लेश हुआ करता है। मरण से भय उन्हीं को होता है जिनका चित्त संसार के कामों में आसक्त है। ५ इन्द्रिय के विषयों में जिनका मन लुभा गया है और इसी कारण इन विषयों के साधनों में ही जिनका लोभ बढ़ गया है उनको मरण से डर है। मेरा तो स्वयं आनन्दस्वरूप है। बाह्य पदार्थों की दृष्टि करके जो यह आत्मा अपने धाम को छोड़कर बाहर में डोल रहा है सो यह दुःखी ही होता है। विषयों के सुख, सुख नहीं हैं किन्तु दुःख ही हैं। आत्मीय आनन्द जो कि ज्ञान में ज्ञान ही हो, इस स्थिति को करके अनुभवा है। ऐसे स्वानुभव के आनन्द को निरखने वाले मुझ आत्मा को विषयों से क्या प्रयोजन है? मेरा काम अनन्त काल तक यह ही रहता है कि मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञानरूप वर्तता रहूँ और इसही ज्ञान स्थिति में निराकुल बना रहूँ। इसके सिवाय मेरा और कोई व्यवसाय न होगा। देह और कर्म के बन्धन से छूटकर अनन्तकाल यह ही तो करूँगा। जो शुद्ध वृत्ति अनन्तकाल तक रहेगी उसकी प्रतीक्षा, उसकी दृष्टि उसके उपयोग में कष्ट का क्या काम?

सल्लेखनाधारी भव्यात्मा के अन्तः प्रसन्नता का कारण—यह सल्लेखना व्रतधारी सल्लेखना के काल में चूँकि ज्ञान और वैराग्य से वासित है अतएव भीतर बहुत प्रसन्न हो रहा है। सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन में बहुत बड़ा प्रताप है। यह भव्य आत्मा अपने आपके स्वरूप में बसकर अलौकिक आनन्द भोग रहा है, यह ही अमूर्त तत्त्व है। अमृत का पान करने से अमर हो जाता है, ऐसी लोक में रुढ़ि है, पर वह अमृत बाहर कहां मिलेगा? वह क्या पानी सा है? किस प्रकार का होता है वह अमृत? ‘मैं अविनाशी सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ ऐसे आत्मतत्त्व की दृष्टि बने यह ही वह अमृतपान है जिससे यह अपने को अमर अनुभवता हूँ’। ऐसे जब बाह्य पदार्थों में मोह न रहा तो मुझ आत्मा का कुछ यहाँ न रहा। वहाँ मैं ही रहूँगा और अपने आपकी दृष्टि में भी

मैं ही रहूँगा । यह तो एक प्रमोद का अवसर है कि ऐसी जीर्ण शीर्ण हालत को छोड़कर मैं अन्यत्र जा रहा हूँ । मैं औपाधिक दुःखों से दूर हो रहा हूँ । अपने आपको निरखने वाले आत्मा के किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता ।

मरण समय में विषयासक्तियों के मरण का भय व भेदविज्ञानी संतों के निर्भयता व प्रसन्नता—अज्ञानीजन हीं जिनको बाह्य विषयों में विश्वास है वे दुःखी रहा करते हैं । खाने पीने विषय भोगने को ही जिसने सुख माना है । मरते दम तक भी बुद्धि सही नहीं बनती और आस्था यही रहती है कि विषयों के भोगने में ही सुख है । ऐसी अज्ञान वासना में आसक्त पुरुष अपना मरण जानते हैं और दुखी होते हैं कि हाय मेरा नाश हो रहा । अब यह खाना पीना बिल्डिंग ये आराम, ये परिजन कहां रहेंगे? मरने के बाद क्या होगा । अब ये मेरे कुटुम्बीजन जो बड़े प्रेम से बोलते थे वे सब छूटे जा रहे हैं । अब मैं किसकी शरण ग्रहण करूँगा? ऐसा बड़ा संक्लेश करके मरण करता है, किन्तु ज्ञानी जीव तो प्रसन्नता के साथ शरीर को छोड़ रहा है । उसको दृढ़ निर्णय है और इसकी दृष्टि में है कि जो मेरा सब कुछ है वह सब कुछ मैं अपने साथ ले जाऊँगा और जो मेरा कुछ नहीं है वह कुछ है ही नहीं, पड़ा रहे तो पड़ा रहे, उसका विषाद क्या? मेरा सब कुछ है दर्शन ज्ञान चारित्र । आत्मा के गुण, स्वरूप, वह साथ ही जाएगा । यहाँ विनाश कहां हुआ? सम्यग्ज्ञानी, जीव को मरण समय में विषाद नहीं होता । यह मैं इस जीर्ण, शीर्ण जेलखाने की देहकुटी में बंद पड़ा हुआ हूँ, चिल्ला रहा हूँ । यहाँ से निकलूँगा तो यहाँ की यह दुर्दशा तो दूर हो ही जायगी । यह मृत्यु मित्र के प्रसाद से ही तो हो रहा है । सत्यस्वरूप जिन्होंने जाना उनको मरण समय में भी कष्ट नहीं है । जीवन में भी कष्ट नहीं है ।

अविकार स्वभाव सहजपरमात्मतत्त्व की आराधना में वास्तविक आनन्द—आनन्द तो उनके है जिनके भेदविज्ञान जग रहा है । वस्तु का स्वरूप सही समझ रहे हैं । सर्वपदार्थों की स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ता बिल्कुल स्पष्ट है । जीवन तो उनका धन्य है । यदि विषय आराम भोग के मिलने में ही जीवन की सफलता मानी जाय तो गधे सूकरों ने कौनसी और दूसरी बात की है? वे भी खाते-पीते विषय भोगते, मोह करते, सब कुछ कर रहे हैं । धन्य जीवन तो उनका है जिनको ज्ञानप्रकाश मिला है । ज्ञानप्रकाश मिलना, समग्र चेतन अचेतन पदार्थों की भिन्न-भिन्न सत्ता का निगाह में बना रहना यह वह वैभव है जिसकी तुलना तीन लोक के पौद्गलिक ढेर भी नहीं कर सकते । तो संसार के अनेक कष्टों से बचाने वाला यह मृत्यु राज आया है, जिससे प्रसाद से जीव अनन्त दुःखों से छूटकर अनन्त सुखों में पहुँच जाता है उस मृत्यु के अवसर पर यह अपने में बड़ी प्रसन्नता रख रहा है अपने को दृष्टि में लिए हुए, मार्ग की सुगमता बना रहा । अब यह मैं इस शरीर से जुदा हो रहा हूँ, इसको रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता । कितने भी रिश्तेदार हों, कितने ही मित्रजन हों यह सबसे निराला स्वतंत्र है, अपने ही परिणमन से परिणमता हुआ अपना कार्य कर रहा है । इस समय आत्मस्वरूप की दृष्टि ही शरण है । मेरा स्वयं अपने सत्त्व के कारण जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी आस्था, उसी का उपयोग और इसही उपयोग का बना रहना और इसही शुद्ध स्वरूप में उपयोग का प्रताप बढ़ाना, यह ही मेरी सब दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना है । मैं इन चार आराधनाओं सहित अपने उस सहज आनन्द को भोगता हूँ ।

सल्लेखनाधारी श्रावक की निज अचल अन्तस्तत्त्व में अचल प्रतीति—सल्लेखनाधारी श्रावक चिन्तन करता है

कि इस मृत्यु के सम्बन्ध में पूर्व ज्ञान के उदय से राग आए, कि कठिन व्याधियां आएँ, दुःख उत्पन्न हो, कफ बढ़ गया, शरीर कफ से हिल जाता है, खांसी से कंप जाता है, ऐसी कठिन भी स्थिति देह की हो वहाँ भी मैं अचल आत्मा अपने इस सहज परमात्मस्वरूप में ही निवास कर रहा हूँ, चल में भी अचल हूँ। सारा देह चल रहा है, पर यह मैं भीतर तो अचल हूँ। मेरा स्वरूप केवल प्रतिभास मात्र है। मैं उसको निरखूँगा। अज्ञानी जीव ही देह में तन्मय होकर देह में रहने को ही सुख मानते हैं। यह देह जो हाड़ का पिंजरा है जिसे लोग तुरंत जला देंगे इस देह से मेरा क्या मतलब है? मैं-मैं हूँ, परिपूर्ण हूँ, अविनाशी हूँ। आनन्दस्वभाव वाला हूँ। मैं यहाँ से अलग हूँ कौनसा कष्ट है? यह ज्ञानी अपने आत्मा को अपनी दृष्टि में रखता हुआ प्रसन्न रह रहा है। यह तो और अच्छा हुआ कि इस देह में वेदना राग दुःख हो रहा है। जिससे मैं चेत तो पाया। अब इसमें मोह तो नष्ट हुआ, सुख में मोह बढ़ता है। दुःख में मोह के नाश का अवसर आता है। जो बीत रहे बीतने दें, मैं तो उसका ज्ञाता ही रहूँगा। यदि इस अवसर पर चूक जाऊँ, संक्लेशमरण करूँ, एकेन्द्रिय आदिक में जन्म लूँ तो मेरा तो चिरकाल के लिए अकल्याण हो गया। यों यह सल्लेखना के काल में रागद्वेष मोह को कृष करता हुआ अपने में अचल ज्ञान प्रकाश को अनुभवता अलौकिक आनन्द पा रहा हूँ। जिसे मरण समय में ऐसी आत्मदृष्टि जगती है वह तो लौकिक जनों के द्वारा पूज्य है। भले ही कोई गृहस्थी में, श्रावक दशा में ही समाधि मरण कर रहा हो पर समाधिमरण करने वाले की स्थिति आदर्श और पूज्य होती है। मात्र थोड़े से कपड़े शरीर पर हैं। उनको भी यह दूर करके मुनिव्रत अंगीकार करता है। नहीं कर सका यह काम इस गृहस्थ पद में तो भी इस सल्लेखनाधारी का न कपड़ों में राग है, न कुटुम्ब में राग है, न देह में राग है। उसकी दृष्टि में तो अमूर्त ज्ञानप्रकाश ही विराज रहा है। जो मैं हूँ उसही को मैं जान रहा। यह श्रावक जीवनभर ब्रत तपश्चरण करके सदाचार में बढ़कर अब इस परीक्षा के अवसर में शुद्धभावों से रहता हुआ अपना जीवन सफल कर रहा है।

रोगादिक वेदना की स्थिति को भी भले के लिए मानना—सल्लेखनाधारी श्रावक चिन्तन कर रहा है कि जो मेरे कोई रोग वेदना है सो यह तो देह में ममत्व घटाने के लिए बड़ा उपकार कर रहा है। यदि रोगादिक न होते और बड़े सुख आराम में देह रहता तो देह से ममता न छूटती और रोग होता है सो वे पहले बंधे हुए कर्म निकल रहे हैं इसका सूचक है, सो यह तो कर्मनिर्जरा के लिए है। जो कर्मबन्ध किया था, जिसके उदय में रोग होते थे उनका उदय आया, रोगादिक हो रहे हैं तो वे पापकर्म के निकलने के संकेत ही तो दे रहे हैं, उनसे मेरी क्या हानि? मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र अविनाशी हूँ। मेरा विनाश नहीं होता। यदि मुझे जो कुछ वेदना या दुःख हो रहा है तो वह इस शरीर के सम्बन्ध से हो रहा है फिर इन शरीरों की ममता क्यों जिसके कारण मुझे दुःख पहुंचे? उसमें मोह क्यों हो? मेरी दृष्टि तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही हो। जैसे लोहे पर कोई चोट मारता, पर लोहे की संगति से अग्नि पर भी चोट पड़ रही है। केवल अग्नि पर कौन चोट करेगा? ऐसे ही शरीर की संगति होने से मुझ आत्मा को वेदना हो रही है नहीं तो मुझ आत्मा में वेदना का क्या काम था? मैं आत्मा तो अमूर्त हूँ। जैसे अग्नि से झौपड़ी जलती है, पर झौपड़ी के बीच का आकाश नहीं जलता, ऐसे ही रोगरूपी अग्नि से शरीर का ही नाश होता है, पर इसके बीच रहने वाले मुझ आत्मा का नाश नहीं होता।

इस समय रोग व्याधि से कायर बनकर अपने परिणाम बिगड़ेंगे तो मैं कुगति पाऊंगा । जो कर्म उदय में आए हैं वे तो आए ही हैं, अपने उपजाए कर्म को खुद को ही भोगना पड़ेगा । अब कायर होकर, अधीर होकर भोगेंगे तो वे कर्म न झड़ेंगे और धीर होकर भोगेंगे, तो वे कर्म अपना उदय दिखाकर निकल जावेंगे । विवेक इसी में हैकि मैं अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व को निहारकर इस देह वेदना से मुक्त होऊं ।

मरण व रोगादिक की वेदना में धीरता लाने वाला विज्ञान—मरण तो कोई भय की चीज नहीं है अब तक अनन्तबार मरण किया । मरण कोई एक नई चीज नहीं है । इसका अभ्यास तो अनन्तकाल से चल रहा है । वह तो आदत बन गई है । उस मरण का भय क्या है? मरे, दूसरे शरीर में गए, पर अज्ञानवश बाह्यपदार्थों में ममता आयी, किसी भी प्रकार का संक्लेश जगे तो उसमें मेरा अकल्याण है । मैं अनेक बार शस्त्रों से मारा गया, अग्नि में अनेकों बार जलकर मरे । बड़े-बड़े उपद्रवों के बीच मरे । आज तो उपद्रव ही क्या है? तो जो रोगादिक की वेदना है उसे मैं धीरतापूर्वक सहूं और उस नियम में रहकर ही इस शरीर से प्रयाण करूं । क्षुधा वेदना होती है तो यह क्या है? नरकों में क्षुधा इतनी है कि सारा अनाज खालें, फिर भी क्षुधा न मिटेगी, पर एक दाना भी नहीं मिलता । उसके आगे क्षुधा क्या है? वहाँ इतनी तृष्णा रहती कि सारे समुद्र का पानी पी लेवे नारकी फिर भी प्यास न बुझे, अब तो प्यास ही क्या है, अथवा यह देह है, कभी इसमें तृष्णा की बात आती है तो अपने आप ही थोड़ी देर बाद स्वयं ही ऐसा परिणमन हो जाता है कि वह तृष्णा नहीं रहती है । इसका क्या अधिक विकल्प करना? अपने संयम को भंग न करना । यदि एक बार भी समाधि पूर्वक मरण हुआ होता तो आज संसार के जन्म मरण ये न सहने पड़ते । मैं समाधि के अवसर पर अपने आत्मा को निरखता हूँ और अपने आप में अपने को स्वाधीन बनाता हूँ ।

मृत्यु की श्रेयस्करता—सल्लेखना ग्रहण करने वाला श्रावक चिन्तन कर रहा है कि इस लोक में मृत्यु जगत में आताप करने वाली है । मृत्यु से सबको कष्ट होता है लेकिन सम्यग्ज्ञानी के तो मृत्यु निर्वाण के लिए होती है । मृत्यु कष्टदायी है ऐसी प्रसिद्धि जो लोक में है वह सही नहीं है । अगर ज्ञान नहीं है तो मृत्यु कष्टदायी है । ज्ञानी को मृत्यु अमृत का संग करने वाली है । निर्वाण अमृतपद है । अरहंत भगवान की आयु का क्षय नहीं होता, तो सिद्ध पद कैसे मिलेगा? भले ही अरहंत भगवान के मरण का नाम पंडित पंडित मरण है, चूँकि उसके बाद जन्म नहीं होता इस कारण उसका मरण नाम भी लिया जा रहा है । पर आखिर आयु का क्षय होना मरण ही तो कहलाता है । तो सकल परमात्मा का यह मरण निर्वाण पद देने का कारण बन रहा है । कहाँ यह नियम रहा कि मृत्यु संताप को उत्पन्न करता है? यह तो अज्ञान और ज्ञान का फैसला है । अज्ञान में मृत्यु के अवसर पर संताप होता है पर ज्ञानप्रकाश में मृत्यु से कोई संताप नहीं होता । यह घड़ा बनाया गया, सूख गया, कच्चा है अभी, पर उसे अग्नि में पका देने से वह घड़ा पक्का हो जाता है तो कच्चे घड़े से कोई पानी नहीं खींच सकता न उसमें पानी भर सकता । अगर वह पंक जाए तो अमृतरूपी जल के भरने के काम आता है ऐसे ही यह मृत्यु का अवसर इस आत्मा को पकाने जैसा अवसर है । इस अवसर में अगर समताभाव से आताप और वेदनाएँ सह ली जाएँ तो यह आत्मा अनन्तकाल के लिए निर्वाण लाभ लेकर सही शान्त आनन्दमय रहेगा । जैसे कि अग्नि से पके घड़े में बरसों पानी रखते जाइए ऐसे ही एक बार भी समता परिणाम सहित सर्व उपद्रव

वेदनावों को सह लिया जाए और इस ज्ञानानन्दस्वभाव अंतस्तत्त्व की दृष्टि दृढ़ कर ली जायते इसे आगे निर्वाण प्राप्त होगा ।

समाधिमरण का अपूर्व लाभ—इस समाधिमरण के अवसर पर यह एक बड़े लाभ का सुगम समय मिला है कि बड़े-बड़े व्रतों के प्रयास करने का जो फल प्राप्त हो सकता है वह महाफल इस मृत्यु के समय में समताभाव के कारण सहज ही प्राप्त हो जाया करता है । लोक में बड़े पद माने गए हैं—इन्द्र का पद, चक्री का पद और अन्तिम पद है निर्वाणपद । सो यह पद बड़े घोर तपश्चरण से प्राप्त किया जा सकता है । सो यदि मृत्यु के इस अवसर पर चेतन अचेतन समस्त परिग्रहों की ममता छोड़ दी जाए और निर्भय होकर अविकार ज्ञानस्वभाव की दृष्टि रखी जाए इस शुद्धस्वरूप का शरण गहा जाए तो ऐसा उत्कृष्ट पद पाकर निकटकाल में मनुष्यभव में निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण कर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है । तो समाधिमरण कितना एक सुन्दर अवसर है कि एक समता परिणाम ही कर लिया जाए तो महाफल प्राप्त हो जाएगा । इस मरणकाल के अवसर में यदि आत्मरूप परिणाम नहीं है तो समझो कि दुर्गति के पात्र हैं और यदि आत्मरूप परिणाम हैं तो समझो कि वह नरक तिर्यञ्च जैसी खोटी गतियां तो पाएगा नहीं । नरक या तिर्यञ्च आयु का बंध किया हो तो उसके मरण समय में समता के परिणाम हो ही न सकेंगे । फिर भी यदि ज्ञानबल है तो वहाँ भी समता का प्रयास किया जाता है, ताकि कुगति भी मिले तो उसमें भी कुछ वहाँ के लायक अच्छी स्थिति मिल सकती । तो समता परिणाम पूर्वक मरण करने वाले जीव को तिर्यञ्चगति, नरकगति नहीं प्राप्त होती और जो धर्मध्यान सहित अनशन आदिक तपश्चरण सहित समाधिमरण हो तो वह महर्षिक देव होगा, इन्द्र होगा, उसके अन्य पर्याय सम्भव नहीं है ।

अपूर्वफल पाने का अवसर समाधिमरण—यह सल्लेखनाधारी अपने आपके आत्मा को समझा रहा है कि जो तप तपा है जीवन में, जो व्रत आदिक पाले हैं जीवन में, जो अन्वेषण किया है जीवन में, जो जिनवचन सुना है जीवन में उनका फल तो इस मृत्यु काल में समाधि द्वारा ही प्राप्त होने को है । बड़े-बड़े तप तपे, बड़े-बड़े इन्द्रिय विषयों की वाञ्छा छोड़ी, अनशन आदिक तपश्चरण किया तो इतना महान संयम जो पाला वह अन्त समय में समाधिमरण के लिए ही तो है । यदि यहाँ समताभाव न रह सके तो उस व्रतादि के पालन का अर्थ अत्यन्त कम रह जाता । अनेक प्रकार के व्रत पालन किए, रात्रि भोजन त्याग, अभक्ष का त्याग, एकाशन, अनशन, आचरण, सारे जीवन में जो व्रत पाले हैं और उन व्रतों के पालन के समय समताभाव भी धारण किया है और आज अब मरण के अवसर पर समता बिगड़ लू तो उसका प्रयोजन क्या रहा? सारे जीवनभर संयम किया तो अब उसकी लाभ मिलने का अवसर आया है अर्थात् संयम परिणाम रहने से ही मुझे भगवंत परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होगी । बड़े-बड़े ग्रन्थों का अध्ययन किया । जीव अजीव आदिक तत्त्वों का परिचय किया, नय विभाग से सर्व वस्तुस्वरूप जाना, जीव और कर्म विषय अनेक घटनाओं का बड़ा ज्ञानसम्पादन किया जीवन में, उसका फल यह ही तो है कि मरण समय में समता परिणाम रहे । यदि मरण समय में ममता, डर, विरोध, कायरता, दीनता दूर न की तो जितना जीवन में धर्म कार्य किया वह सब निरर्थक हो जाता है । इस चिन्तन से यह श्रावक सल्लेखना के अवसर पर अपनी बड़ी सावधानी बनाए है बारबार अन्तः स्वरूप की दृष्टि

करता है। मैं देह से निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ इसकी प्रतीति तो निरन्तर है पर समय-समय पर अनुभूति भी चलती रहती है।

देह से ममत्व हटाने का एक और चिन्तन—समाधिमरण करने वाला विचार कर रहा है कि लोक में यह नीति पायी जाती है कि जिसका अत्यन्त अधिक परिचय हो जाए उसमें फिर लोगों की अवज्ञा होने लगती है, उसके प्रति गाढ़ प्रीति नहीं रहती है, उससे उपेक्षा होने लगती है। यहाँ इस शरीर का कितना बड़ा परिचय है, भव-भव में यह देह मिला, अनन्तकाल से इस देह का परिचय चल रहा है, तब फिर इस शरीर की तो उपेक्षा करना ही ठीक है। यदि आज यह देह मिट रहा है तो उसमें डर का क्या काम? और फिर यह जीर्ण शीर्ण शरीर रोगी, वृद्ध, तथा अत्यन्त दुर्गम्य देने वाली चीजों से भरा है ऐसे खोटे शरीर के नष्ट होने के कारण नवीन शरीर मिलने के समय क्यों कायरता धारण की जा रही है। वस्तुस्वरूप का परिज्ञान करके चेतन अचेतन बाह्य परिग्रहों में ममता को तज देना और ऐसी अविकार दृष्टि रखकर शरीर से निकलना इसको कहते हैं समाधिमरण। जिसने समाधिमरण एक बार भी प्राप्त किया हो उसको निकटकाल में संसार के समस्त संकटों से छुटकारा मिल जाता है।

स्व में स्वत्व की भावना—सल्लेखना धारण करने वाला ब्रती श्रावक चिन्तन कर रहा है कि इस समय जबकि मैं देह को छोड़कर जा रहा हूँ तो जो मेरे साथ जाएगा उसका तो मुझे अनुराग है और जो मेरे साथ न जा सकेगा उससे अनुराग करने से लाभ क्या? साथ जाएगा मेरा स्वरूप और साथ ही सद्भावना। साथ जाया करते हैं अच्छे बुरे संस्कार और पुण्य पाप कर्म, पर बुरे संस्कार और पाप का फल तो बुरा है। उससे तो मेरा प्रयोजन ही कुछ नहीं? प्रयोजन तो मेरा एक कारण समयसार से है, अपने स्वरूप से है। मैं हूँ और अपने सहज स्वरूप को लखता रहूँ बस इसके फलरूप शुद्ध परिणति होगी। होगी, किन्तु वह मेरे लक्ष्य में नहीं है। वह तो फल है, मेरे लक्ष्य में तो यह एक सहज ज्ञानानन्द स्वरूप रहे। जो साथ न जाएगा वह क्या है? यह कुटुम्ब, धन, सम्पदा, मित्रजन, शरीर ये कुछ भी साथ नहीं जाने के हैं। इनसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। मेरा स्वरूप क्षमाशील है। ऐसा क्षमाशील अविकार स्वरूप ही मेरी दृष्टि में रहे। शान्ति इसके ही स्व के आलम्बन में है, अन्यत्र शान्ति नहीं। अथवा वस्तुस्वरूप का यही तकाजा है, जैसा मैं हूँ वैसा ही लखता रहूँ, स्वरूप के विरुद्ध कुछ देखेंगे तो उसका फल संसार संकट है। मेरा स्वरूप जो है सो ही है। नम्र है, इसमें मान कषायरूप विकार नहीं है। यह विकार सब कर्म की फोटो है कर्म में उदित हुई है, मुझ में झलकी है। अज्ञानीजन ही उस झलक को अपना स्वरूप मानकर कषाय करते हैं। वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप सरल है। वहाँ टेढ़ मायाचार का कोई स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं। तृष्णा लालच ये सब मेरे में कोई विकार नहीं। मैं यथार्थ ज्ञानानन्दस्वरूप सत् लिए हुए हूँ। अपने सत्त्व से हूँ। अपने उस स्वरूप में ही मैं रमूंगा। इस स्वरूप में रमते हुए मेरे चैतन्य का प्रताप बढ़ेगा। सो वही मेरा वास्तविक व्यवसाय है। अपने आपको मैं ग्रहण करूँ सो जो मेरा नहीं है वह अपने आप छूटेगा। मुझ में कोई बाहरी पदार्थ नहीं है, ऐसा चिन्तन कर यह सल्लेखनाधारी अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप में रम रहा है।

अन्तस्तत्त्व की ध्रुवता व शरण्यता—जगत में जितने भी पदार्थ दृश्यमान हैं वे सब मायामय हैं, विनाशीक हैं।

इन सबमें परमार्थ तो परमाणु-परमाणु हैं और मुझ में यह मैं चैतन्यस्वरूप परमार्थ हूँ। मायामयी वस्तुओं से प्रीति करना व्यर्थ है, उससे धोखा ही मिलेगा, आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। ये सब विनाशीक हैं। यह मैं सहज आत्मस्वरूप अविनाशी हूँ। अविनाशी होकर विनाशीक वस्तु में लगाव लगाना अज्ञान का काम है। बाहर में मुझे कुछ भी शरण नहीं है जब मैं अपने उपयोग को अपने स्वरूप से हटाकर बाहर लगाता हूँ तो यही मैं अशरण कहा जाता हूँ। मेरा शरण है मेरा शाश्वत स्वरूप, जो कभी मुझ से अलग नहीं होता। यह मैं उपयोग ही कल्पना से अलग हो बैठता हूँ, पर मेरा भगवान परमात्मा ऐसा स्वभाव वाला है कि मुझ से कभी भी अलग नहीं हो रहा। जब मैंने अज्ञान से पाप किया, भोगों में रहा तो वहाँ भी मेरा भगवान आत्मा अलग नहीं हुआ था, पर मैं ही उसे न देख रहा था और मेरे इस अपराध के कारण भगवान परमात्म तत्त्व पर आवरण पड़ा हुआ है। अब मेरे को मेरा भगवत्स्वरूप दृष्टि मैं है बाहर पदार्थों से शरण का काम ही क्या है?

अन्तस्तत्त्व की सारभूतता, एकत्वगतता-विविक्तरूपता व शुचिरूपता—मेरे लिए सारभूत पदार्थ केवल मेरा स्वरूप ही है अन्य बाह्य पदार्थ रहे वह अपनी परिणति से रहेगा। सभी पदार्थ अपनी सत्ता कायम रखने के लिए निरन्तर परिणमन किया करते हैं। सबका काम उनका उन्हीं सबमें है, उनसे मेरा कुछ भला नहीं है बुरा भी नहीं है उनके लगाव में बुरा है भला नहीं है। अब मैं अपने सद्भूत इस परम पारिणामिक भावरूप सहज चैतन्य स्वरूप को ग्रहण करता हूँ। यह मैं सर्वत्र अकेला हूँ, स्वरूप में भी एक हूँ, बाहरी पदार्थों में भी एक हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है। सब मुझ से निराले हैं। जब मेरा किसी अन्य से रंच सम्बंध नहीं है तो मैं क्यों अपने स्वरूप से चिंगकर बाहर दृष्टि दूँ? मैं पवित्र ज्ञानानन्द शरीरमय अपने आत्मा को ही देखूँ। इस देह से भी मेरा क्या प्रयोजन है? देह न रहे यह तो मेरे कल्याण के लिए है और देह मिलते रहें यह मेरे अकल्याण के लिए है। जब मैं देह पर दृष्टि देता हूँ, अन्य पदार्थों की ओर उपयोग लगाता हूँ, तो मेरे इस उपयोग के कारण अनेक कर्मों का आना होता रहता है। आते हैं तो बंधते उसी क्षण हैं और उनमें अनुभाग भी बंधता है अपनी स्थिति पूरी होने पर या पूरी होने से ही पहले कारणवश उनका अनुभाग फूटता है जिससे मेरे इस सहज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को बड़ी चोट पहुँचती है, आक्रमण होता है इस पर और यह दबा-दबा रहता है, जिसके फल में संसार में परिभ्रमण करना होता है। अब मैं अपने इस अविकार स्वरूप को ही निरखता हूँ। यहाँ ही मेरी दृष्टि रहे, यहाँ ही मैं बना रहूँ। इसमें मेरी रक्षा है और इसी के प्रताप से पहले के बांधे हुए आए हुए कर्म बैरी भी अपने आप दूर हो जाएँगे। सल्लेखना धारण करने वाला पुरुष अपने आपकी स्थितियों के बारे में विचार कर रहा है कि मैंने अनादि काल से अब तक अनन्तकाल अज्ञान में खोया, जन्म मरण किया। मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चरित्र के कारण लोक में अनन्तबार सर्वत्र जन्मा मरा, अब थोड़ीसी बिन्दु बराबर भूमि पर प्राप्त हुए इन समागमों में राग करना, विरोध करना यह बिल्कुल बेहूदापन है। मैं तो अपने स्वभाव को ही निरखता हूँ जिसके प्रताप से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का विकास होता है। मेरा स्वरूप स्वयं धर्ममय है। स्वभाव में और मुझ में भेद नहीं है। मैं स्वयं धर्ममूर्ति हूँ। अतः स्वरूप को निरखकर सल्लेखनाधारी अनुभव कर रहा है। इस धर्म में, इस आत्मस्वरूप में कष्ट का नाम ही नहीं है, सो मैं कष्टरहित इस अविकार पवित्र ज्ञानस्वरूप में ही अपने ज्ञान को चेताता रहूँ। आत्मस्वरूप में दृष्टि रखने वाले, रमने वाले पुरुष को

अन्तः प्रसन्नता रहती है, वेदना नहीं रहती और कदाचित् पूर्वबद्ध कर्म के उदय से कोई वेदना आयी है शरीर में रोग हुआ है, कितना ही कठिन रोग हुआ हो, कफ खांसी निरन्तर चल रहे हों, शरीर में भी ज्वर के कारण एक वेदना मच रही हो। कितनी ही कठिन वेदना हुई हो, ये वेदनाएँ कोई वेदनाएँ नहीं हैं। अपने पुराण पुरुषों की वार्ता याद कीजिए, उन्होंने कैसी कठिन-कठिन वेदनाएँ पाई, वे कभी आत्मस्वरूप से चलित नहीं हुए।

उपसर्ग विजेता श्री सुकुमाल मुनि की समता का स्मरण—सुकुमाल महामुनि हुए जो कि गृहस्थावस्था में बड़े सुकुमार थे, बहुत बड़े धनी होने के कारण सुकुमाल पुत्र से अधिक अनुराग होने के कारण उनके माता पिता ने उनको बहुत आराम सुविधा दी थी। और यह जानकर कि यह पुरुष विरक्त हो जाएगा किसी मुनि को निरखकर तो बड़े विशाल महल बाग बगीचे के अन्दर ही उनको रमने के स्थान बना दिया था। रत्नों के दीप प्रकाश में रात्रि में उनका आवागमन रहता था। दीपक की ज्योति को सुकुमाल देख न सकते थे, आँखों में अश्रु आ जाते थे। कमल के फूलों से सुगंधित चावलों का ही भोजन किया करते थे। बिना सुवासित चावल खा न सकते थे। सुकुमाल महामुनि जो गृहस्थावस्था में सुकुमार थे, वही सुकुमाल जब वैराग्य आया, घर से बाहर निकले, कोई साधन न था तो धोतियों की गांठ लगाकर नीचे लटकाकर ऊपर से उसके सहारे उतरे। बिना जूतों के सुकुमाल चले जा रहे। पैरों से खून भी चूने लगा पर प्रसन्न थे वे इस धुन में कि संसार, शरीर, भोगों का लगाव छोड़कर अपने आत्मा के सहज आनन्दमय स्वरूप में प्रीति करके अब मैं कृतार्थ होऊंगा। इस धुन में प्रसन्न हुए चले जा रहे हैं, मुनिराज दिखे, दीक्षा ली, ध्यानस्थ हो गए। अब रास्ते में जो उनके पैर के खून के बूँद पड़े थे। उनके सहारे एक स्यालिनी अपने बच्चों सहित वहाँ पहुंची। और उस स्यालिनी को सुकुमाल से था पूर्वभव का विरोध, तो उस बैर विरोध के कारण उसे इतना क्रोध आया कि सुकुमाल महामुनि के पैरों का भक्षण करने लगी, उसके बच्चे भी भक्षण करने लगे। ऐसे कठिन उपसर्ग में भी उन्होंने धीरता न त्यागी और एक अविचल सहजस्वरूप में उपयोग रमाकर अविचल रहे, जिसके प्रताप से वे सर्वार्थसिद्धि गए, जहाँ ३३ सागर पर्यन्त तत्त्वचर्चा में प्रसन्न रहकर वहाँ की इतनी स्थिति गुजार कर मनुष्यभव पाकर मोक्ष जाएँगे। तो देखिए उन पर आया हुआ वह दुःख कितना था कि उनके शरीर को चीथा, मांस खाया, ऐसी स्थिति में जो वेदना हो सकती है उसके सामने हम आपको क्या वेदना है? कुछ भी वेदना नहीं है। और वेदना आए तो उसे धीरता से सहेंगे तो यह उदय कराएगा। धीरता छोड़कर संक्लेश करेंगे तो यह उदय कराएगा। धीरता में वेदना कम है अथवा न होगी। समता परिणाम होने से सद्गति होगी। उसके कोई कठिन वेदना नहीं है। तो सल्लेखना धारी पुरुष चिन्तन कर रहा है। पुराण पुरुषों का। जो अपने कुल में पुराण पुरुष हुए हैं वे हैं अपने सब पुरुख।

उपसर्गविजेता सुकौशल मुनिराज के अन्तर्धान की स्मृति—एक सुकौशल मुनिराज हुए। वे जब बच्चे थे तभी उनके पिता कीर्तिधर मुनि हो गए थे मंत्रियों ने बहुत समझाया पर न माने, और किसी से यह भी विदित हुआ यह बच्चा यदि किसी मुनि के दर्शन कर लेगा तो यह भी विरक्त हो जाएगा। तो सुकौशल की मां ने यह प्रबंध किया कि यहाँ पर कोई मुनि न आ सकेगा क्योंकि यदि कोई मुनि आ गया तो मेरा पुत्र विरक्त हो जाएगा,

एक तो मैं पति से वियुक्त हो गई, दूसरे अपने पुत्र से भी वियुक्त हो जाऊँगी, यह सोचकर उसने बड़ा कड़ा प्रबन्ध कर दिया कि वहाँ कोई मुनि आ न सकेगा। एक बार द्वारपाल की असावधानी से कीर्तिघर मुनि महल की सीमा में चर्या के अर्थ आए। उस समय सुकौशल की मां ने कीर्तिघर को अनेक गालियां सुनायी और वहाँ से उन मुनि को निकलवा दिया। यह देखकर सुकौशल की धाय को बड़ा कष्ट हुआ और उस धाय के आंसू आ गए। धाय को रोता हुआ देखकर सुकौशल का चित्त भीग गया और कहा मां तुम को क्या दुःख है। अपने दुःख का कारण बताओ? धाय भी मां की तरह होती है। जो दूध पिलाए, बच्चे को पाले पोषे। धाय मां से कम नहीं है, फर्क सिर्फ इतना है कि धाय के पेट से पैदा नहीं होता वह बच्चा। तो सुकौशल के बारबार पूछने पर उसने गद्गद स्वरूप में सारी बात बता दी कि अभी एक मुनिराज आए थे और जिनको क्षणभर तुमने भी देखा वे तुम्हारे पिता थे, और तुम्हारी मां ने उन मुनिराज के प्रति याने तुम्हारे ही पिता के प्रति ऐसा व्यवहार किया कि उनको गाली देकर भगा दिया। उनके इस अपमान को देखकर हमारा हृदय दुःख से भर आया। सुकौशल को उन मुनिराज के दर्शन करके चित्त में विरागता तो हुई थी, किन्तु वे मेरे पिता थे, यह जानकर उनकी विरक्ति की और औरभी तीव्र भावना हुई। और साथ ही अपनी माता के द्वारा ऐसा अपमान देखकर उनको विशेष विरक्ति बढ़ी। वह सुकौशल उस छोटी अवस्था में ही घर छोड़कर साधु होने के लिए चल दिए। जिस समय वह घर छोड़कर जा रहे थे उस समय लोगों ने बहुत मनाया कि तुम्हारी अभी किशोर अवस्था है, अभी दीक्षा मत लो मगर जिसको आत्मानुभव का अलौकिक आनन्द आ जाता है उसे फिर संसार के कोई विषय नहीं रुचते। मंत्रियों ने कहा कि तुम्हारी रानी के गर्भ है। संतान हो जाने दो, उसे राजतिलक देकर फिर दीक्षा ले लेना। तो वहाँ सुकौशल ने यही कहा कि जो भी उदर में संतान होगा उसी को मैं राजतिलक करता हूँ, वही इस राज्य का अधिकारी होगा। और जब तक वह संतान बाहर नहीं निकलता तब तक राज्य की सारी सम्हाल मंत्रीजन करेंगे। इतना कह कर चल दिये और दीक्षा ले ली। वह सुकौशल ध्यान में आरूढ़ थे और यहाँ सुकौशल की मां संक्षेप में भरकर व्याधी बनी। उसको पूर्वभव के बैर का स्मरण हो गया सुकौशल को ध्यान करते देखकर। उसके बैर उमड़ा और वह सुकौशल मुनि को अपने पंजों से चीथने लगी। देखिए उस समय सुकौशल मुनि के लिए कितनी बड़ी वेदना का प्रसंग था मगर वे आत्मध्यान में इतना आरूढ़ रहे कि उनको उस वेदना का भाव तक न हुआ। तो जिसने देह से अत्यन्त निराले अपने आत्मा की अनुभूति का आनन्द पाया है, उनका उपयोग तो आत्मस्वरूप पर ही रमेगा। इतनी बड़ी वेदना में वे धीरवीर रहे और तपश्चरण कर समाधिमरण कर केवल ज्ञान पाकर मुक्ति प्राप्त की। तो सुकौशल मुनि के समक्ष यह वेदना ही क्या है अथवा हो वेदना शरीर की कुछ भी परिणति है, उसका उपाय औषधि नहीं, उसका दुःख देखकर दूसरे से याचना करना नहीं केवल एक ही उपाय है अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि दृढ़ की जाए। उसही ज्ञानबल के प्रताप से ये पीड़ाएँ दूर होंगी। आत्मा में प्रसन्नता जगेगी। संसार के संकट दूर होंगे।

उपसर्गविजेता गजकुमार मुनिराज की धीरता का स्मरण—सल्लेखनाधारी पुरुष अपने उन पुराण पुरुषों का विचार कर रहा है जिन्होंने अपने उपयोग को आत्मस्वरूप में ही रमाया और बड़े-बड़े उपसर्गों के बीच भी वे अपने ध्यान से विचलित न हुए। यह उपयोग जाननहार है, यह यदि मेरे स्वरूप में रमेगा तो बाहरी पदार्थों

का विकल्प न रहेगा । और कल्याण इसी में है कि मैं अपने स्वरूप की ओर ही अभिमुख रहूँ । नेमिनाथ भगवान के समय में गजकुमार मुनिराज हुए थे । वे बहुत रूपवान थे और भरी जवानी के हृष्टपुष्ट पुरुष थे । उनके साथ एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या का विवाह कर दिया । विवाह हुए कोई एक दो दिन हुए थे कि वे नेमिनाथ स्वामी के समवशरण में गए, धर्मोपदेश सुना । उनकी आत्मदृष्टि जगी और आत्महित की तीव्र भावना हुई और वे तुरन्त ही दीक्षा लेकर ध्यानस्थ हो गए । ध्यान कर रहे थे कहीं जंगल में । जब यह सुना उनके स्वसुर ने कि गजकुमार ने दीक्षा ले ली तो उनको बड़ा क्रोध उमड़ा समझाने गए, पर उनने एक न सुना, न उसकी ओर देखा, वे तो अपने ही आत्मा में ध्यानस्थ हो गए । यह वृत्ति थी गजकुमार की । उनके स्वसुर को उस समय तीव्र क्रोध आने के कारण गजकुमार के सिर पर मिट्टी की बाढ़ लगाकर एक अंगीठी सी बना दी और उसमें कोयला डालकर आग लगा दी । उससे उनका सिर तेज जलने लगा, पर गजकुमार अपने स्वरूप में ही अविचल थे । जो स्वरूप की दृष्टि का आनन्द पा लेता है, उसके लिए ये सब बाधाएँ सुगम हो जाती है । मोहियों को तो इस प्रकार की बात सुनकर आश्र्य होता है पर आश्र्य की बात नहीं । आत्मध्यान का कुछ ऐसा ही प्रताप है कि उसमें वे सब बातें सुगमतया आ जाती हैं । आखिर आत्म ध्यान के बल से उसे ही स्थिति में उनको केवलज्ञान जगा और उन्होंने निर्वाण पाया । तो ऐसे पुरुष की ऐसी कठिन पीड़ा थी फिर भी उसमें वे विचलित नहीं हुए । अपने आत्मस्वरूप में रत रहे मैं भी सर्वसंकटों के बीच अपने आत्मस्वरूप के अभिमुख रहूँ और अन्तः प्रसन्न रहूँ ।

व्याधि से विहृल न होने के लिए सनतकुमार चक्री जैसे पुण्यवंतों की महाव्याधि का तृतीय मान स्मरण— सल्लेखना धारण करने वाला ब्रती श्रावक चिन्तन कर रहा है कि मेरे इस अवसर पर जो शरीर में व्याधि आयी है वह न कुछ चीज है । प्रथम तो मुझ आत्मा का इस शरीर और शरीर की परिणति से संबंध ही नहीं है । शरीर की परिणति का अनुभवन मुझ में नहीं होता है । कुछ भी संबन्ध नहीं है और फिर व्याधि का स्वरूप देखा जाए तो न यह कुछ चीज है । पुराण पुरुषों को कैसी-कैसी आपत्तियां आयी, व्याधियां आयीं जिन में भी वे नहीं चिंगे, तो मैं न कुछ सी व्याधि में कैसे चलित होऊँ, सनतकुमार महाराज हुए पहले जिनके रूप की प्रशंसा स्वर्गों में भी इन्द्र सभा में होती थी । जैसे यहाँ प्रवचनसभा होती है और श्रोता सुनते हैं ऐसे ही स्वर्ग में भी प्रवचन सभाएँ होती हैं और उनमें मुख्य वक्ता इन्द्र होता है, इन्द्र का नाम वृहस्पति भी है । तो एक बार सभा में सनतकुमार महाराज के रूप की प्रशंसा की चर्चा चल रही थी । दो देवों ने सोचा कि परीक्षा तो करें— देखें तो सही कि कैसा रूप है । सो दो देव आए । वे उस समय आए सुबह के समय जबकि अखाड़े से व्यायाम कुश्ती करके नहाने के लिए बैठे हुए थे । उनके शरीर में कहीं-कहीं धूल भी लगी थी । जब वे देव आए तो उनका अद्भूत रूप देखकर, कांति और रूप देखकर बड़ी प्रशंसा करने लगे कि स्वर्ग में जैसी प्रशंसा हो रही थी वैसाही रूप महाराज का है । किन्तु वहाँ के मंत्री, बाड़ी गार्ड वगैरह ने बताया कि अभी तो ये अखाड़े से आए हैं, धूल से धूसरित हैं । अभी इनका क्या रूप देखते । जब ये खूब सजधज कर राजसिंहासन पर बैठे हों तब देखिए इनका रूप कैसा है । तो वे देव पुनः उस वक्त भी आए जबकि सनतकुमार खूब सजधज

कर राजसिंहासन पर बैठे थे । तो उस समय उन्हें देखकर वे अपना माथा धुनने लगे और कहने लगे कि अब तो इनमें वह रूप नहीं रहा जो उस समय था । देवों की ऐसी बात सुनकर वहाँ बैठे लोग बोले—वाह आप लोग यह क्या बात कह रहे । तो उन देवों ने एक वृष्टान्त देकर समझाया—एक घड़े में पानी भरवाया और उसमें सींक डालकर एक बूंद पानी घड़े से निकालकर बाहर डाल दिया और पूछा बताओ घड़ा कुछ खाली हुआ कि नहीं तो लोग तो बोले कि अभी घड़ा खाली नहीं हुआ, ज्यों का त्यों भरा है । पर देवों ने समझाया कि भले ही मोटे रूप से देखने पर कुछ न विदित हो पर कुछ न कुछ तो पानी कम हो ही गया । फिर बताया कि जैसे एक-एक बूंद पानी निकल निकलकर घड़े का पानी कम होता जाता है ऐसे ही जीवन का एक-एक क्षण ज्यों-ज्यों निकलता जा रहा है त्यों-त्यों शरीर का बल, रूप, सौन्दर्य आदि सब कम होता चला जा रहा है । दूसरी बात यह है कि कोई यदि बिना शृंगार किए अचानक बैठा हो तो जो सुन्दरता उस समय होती है वह सुन्दरता बनावट करके नहीं होती । खेर यहाँ कथानक तो यहीं का यहीं रहा । ये ही सनतकुमार जो इन्हें रूपवान थे जब मुनि हुए तो इनको कुष्ठ वेदना हो गई । अब कोढ़ होने पर शरीर की बात सोचिए कैसी होती है । बोझ हो जाता है शरीर उसके लिए । लोग उसे देखकर घृणा करने लगते । उस समय १०-१२ बार चक्र लगाते हुए बोलते थे कि मैं वैद्यराज हूँ, मेरे पास सब रोगों की अचूक दवाई है । जब १०-१२ चक्र लगाया तो सनतकुमार ने सोचा कि ये लोग मुझे दिखाने के लिए ऐसा कर रहे हैं । बुलाया पास में और कहा—आपके पास कौनसी दवाई है? तो उन्होंने बताया कि मेरे पास सब रोगों की अचूक औषधियां हैं जैसे कुष्ठ, कैन्सर आदि । बताओ तुम्हें क्या रोग है? तो सनतकुमार ने कहा कि मेरे जन्ममरण के चक्र का विकट रोग लगा है उसके मिटने की औषधि यदि आप दे सकें तो दे दीजिए । तो वहाँ वह देव चरणों में लोटकर बोला—महाराज माफ कीजिए, मैं यह दवा दे सकने में असमर्थ हूँ । मैं वैद्य नहीं हूँ, मैं तो देव हूँ । मैं तो तुम्हारी परीक्षा लेने आया था सचमुच मैंने आपको ब्रत, तप आदिक में अत्यन्त सावधान पाया । तो ऐसे-ऐसे बड़े कठिन रोगों में भी हमारे पुरखा विचलित नहीं हुए । तो उनके सामने हम आपको तो कुछ भी कष्ट नहीं है ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीसमन्तभद्राचार्य की घटनाओं का स्मरण—यहाँ समाधिमरण करने वाला पुरुष अपने आपको ऐसा सम्बोध रहा कि शरीर से दृष्टि ही हट जाए । जिनके ज्ञान नहीं होता उनको लौकिक हिसाब से कष्ट भी न हो तो भी ये निरन्तर कष्ट में रहते हैं । जिनके ज्ञान होता है वे लौकिक कितने ही कष्ट में रहें तो भी उनके चित्त में प्रसन्नता रहती है । बड़े-बड़े पुरुष ज्ञानबल के ही कारण विचित्र परिस्थितियों में भी गुजरे पर वे अपने सम्यक्त्व से नहीं बिगड़े । सम्यग्दर्शन ही मुझ आत्मा का वास्तविक साथी है । जो इस समय भी मदद करता है और आगे भी मदद करेगा । समन्तभद्र मुनिराज हुए हैं बड़े दिग्गज विद्वान । उनको कलिकाल सर्वज्ञ कहा जाता है । जब उनके न्याय शास्त्रों का कोई अध्ययन करे तो कुछ परिचय हो पाता कि उनमें कितनी विद्या निधि थी । आज अष्ट सहस्री ग्रन्थ प्रसिद्ध है, तो जिन कारिकाओं पर अष्टसहस्री टीका बनी, अष्टशती टीका बनी वे कारिकाएँ समन्तभद्र स्वामी की रचित हैं जिन में छोटे-छोटे श्लोकों में थोड़े से संकेत में सैकड़ों दर्शन शास्त्रों का इतना भण्डार भरा है कि उसके विस्तार में कितनी ही टीकाएँ होती चली जाएँ । अचानक ही भस्म

व्याधि रोग हो गया जितना चाहे खा जाएं सब हजम होता जाए, मन, दो मन, चार मन खाएं, बड़ी कठिन वेदना फिर भी भूख की भूख । उस समय समन्तभद्र मुनि ने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि मैं अब समाधि मरण चाहता हूँ । आचार्य जानते थे कि इस समय समन्तभद्र मुनि के सिवाय कोई विद्या निधि नहीं है जो जैन धर्म की प्रभावना कर सके और हमारे ज्ञान का प्रकाश कर सके । तब उनको आदेश दिया आचार्य ने कि आपको समाधिमरण का आदेश नहीं दिया जा सकता । और आदेश आपको यह है कि आप कोई सा भी भेष रख ले किसी संन्यासी वगैरह का जब तक कि रोग न मिटे, पश्चात् आपको दीक्षा दे दी जाएगी । गुरु का आदेश मानना पढ़ा । आखिर कुछ दिन समन्तभद्र संन्यासी के भेष में रहे । क्या किया उन्होंने सो सब आप सबको विदित ही है, और अन्त में उन्होंने वृहत्स्वयंभू स्तोत्र रचा, जिन में है तो २४ तीर्थकरों की स्तुति मगर वहां भी दर्शनदृढ़ता उन श्लोकों में पायी जाती है । और राजा ने जो कि अप्रसन्न हो गया था उसने तीर्थकर के सिवाय अन्य मूर्ति के सामने नमस्कार करवाया उस मूर्ति को, उस पिण्डी को सांकलों से जकड़ दिया मगर जब स्तोत्र को पढ़ा तो ७ तीर्थकरों की स्तुति तक उन्होंने नमस्कार शब्द नहीं बोला । स्तवन होता रहा दार्शनिक वर्णन चलता रहा, पर चन्द्रप्रभु का स्तवन करते समय वंदे शब्द कहा तो उसी समय सांकल टूटी और चन्द्र प्रभु की मूर्ति प्रकट हुई । ऐसे बड़े दिग्गज विद्वान कलिकाल सर्वज्ञ जैसे मुनिराज को भी व्याधि ने छोड़ा नहीं । उन बड़ी व्याधियों के सामने क्या व्याधि है, ऐसा निरख रहा है यह सल्लेखना ब्रतधारी ।

उपसर्गविजेता पञ्चशत् मुनिवरों की समता का स्मरण—बहुत पुरानी एक घटना है कि दण्डक वन में ५०० मुनिराज आए हुए थे, राजा ने नमस्कार किया, मंत्री साथ थे । मंत्रियों को किसी बात पर रोष आ गया । कहीं वाद-विवाद करते हुए में हार गए तो उस क्रोध में आकर उनने पहले सोचा कि इन मुनियों को कैसे मरवाया जाए? होते-होते एक उपाय उन्हें सूझा । एक भांड से कहा कि तुम मुनि का रूप रख लो, नग्न हो जाओ, पिछी कमण्डल ले लो और रानी के महल में जाकर उससे कुछ वार्ता करो । सो वैसाही किया उस भांड ने । तो उस मंत्रि ने राजा को प्रत्यक्ष दिखाया कि देखो जैन मुनि इस तरह के निर्लज्ज होते हैं जो कि रानियों से एकान्त में वार्ता करते हैं । तो यह दृश्य देखकर राजा को गुस्सा आया और ५०० मुनियों को घानी में पिलवा दिया । अब भला बतलावो घानी में पेले जाने पर तो हड्डियां भी चूर-चूर हो जाती हैं । तो उस समय भी मुनिराज ने अपनी धीरता नहीं त्यागी और आत्मध्यान में सावधान रहे । तो उनके सामने हम आपको रोग की वेदना क्या है? मरण समय, रोग वेदना के समय यदि जीवों की दृष्टि अपने चैतन्यस्वरूप की ओर आए तो वह कृतार्थ हो जाता है । संसार के संकटों से छूटने का उसने यत्न कर लिया । बाहर का कुछ भी पदार्थ संग साथी नहीं है । यह देह भी साथी नहीं है । जिसे कुछ ही मिनट बाद लोग शमशान में जला डालेंगे । उस अत्यन्त भिन्न देह का विकल्प क्यों करना? मरण समय आहार योग्य रखें तो कफ खांसी का रोग न बढ़ेगा । सब रोगों से बुरा रोग है मरण समय में तो यह खांसी वाला रोग है। कहने को तो बहुत छोटा है जिसमें देह हिल जाता है । मरण समय में जो आहार का त्याग सम्भालने में भी बहुत ऊँची चीज है । अपनी ऐसी सावधानी रखता हुआ कोई कठिन रोग आ जाए तो उस रोग को भी एक शरीर का सम्बन्ध जानकर, अपने से भिन्न जानकर उसकी उपेक्षा करता है ।

उपसर्गविजेता सप्तशतक मुनिवरों की धीरता का स्मरण—सल्लेखनाधारी अपने पुराण पुरुषों के उपद्रवों का चिन्तन कर रहा जिन में वह धीर वीर रहता है। ७०० मुनि अकम्पनाचार्य के संघ के आचार्य सहित हस्तिनापुर में थे, जिनको बलि मंत्री ने अपने पहले विरोध के कारण ७ दिन का राज्य लेकर जो उपसर्ग किया वह दिल को कंपाने वाला उपसर्ग है। धर्म का तो रूप रख लिया, पर वह धर्म नहीं, वह तो कुर्धर्म है। यज्ञ का बहाना किया और ७०० मुनियों के चारों तरफ बाड़ लगाकर भीतर कूड़ा-कचरा हड्डी ऐसी गंदी चीजें भी फैककर आग लगा दी और यज्ञ में किमिच्छुक दान दिया। मांगा हुआ राज्य था। पीछे तो राजा बनकर रहना न था। सब खजाना लुट जाए तो उनको क्या परवाह? ऐसा ढोंग रचकर जो ७०० मुनियों पर उपद्रव किया गया वह दिल को हिला देने वाली घटना है। उस समय भी वे मुनिराज अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। सहज परमात्मस्वरूप के ध्यान में उन्होंने और अधिक दृष्टि की। आखिर विष्णुकुमार मुनि की कला से वह उपसर्ग बचा और उपसर्ग निवारण के बाद वे सब मुनि आहार को भी गए। श्रावकों ने जल्दी कंठ से निगल जाएँ ऐसा आहार बनाया, पर देखिए कितना घोर उपद्रव सहा। उस उपसर्ग के आगे मेरे व्याधि आदिक का कौनसा बड़ा उपसर्ग है जिसमें मैं विकल्प करूँ? इन विकल्पों से हटकर आत्मस्वरूप की ओर ही अभिमुख होना मेरा कर्तव्य है।

उपसर्गविजेता पाण्डवों का स्मरण—उपसर्गों में उपद्रवों में अनेक पुरुषों के प्राण गए, पर जिन्होंने संक्लेश किया उनको कुगति हुई और पाए हुए दुर्लभ मनुष्यजन्म को व्यर्थ खोया और जिनके सद्भाव रहे उनकी सुगति हुई। उन्होंने इस दुर्लभ मनुष्यजन्म को सफल किया। नेमिनाथ स्वामी के ही तीर्थ में कृष्ण कौरव पांडव आदिक हुए। घटनाएँ बड़ी-बड़ी विचित्र थीं, अन्त में विरक्त होकर पांचों पाण्डव तपश्चरण में जुट गए। दुर्योधन के रिश्तेदारों ने सोचा वे मुनि बनकर अब कहां जाएँगे? पता लगाऊंगा, जहाँ मिलेंगे वहाँ उनकी खबर लूँगा। पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँचे जहाँ पाँचों पाण्डव तपश्चरण कर रहे थे। कायोत्सर्ग से आत्मध्यान में थे, वहाँ उन रिश्तेदारों ने क्या किया कि अनेकों प्रकार के लोहे के आभूषण बनाये, उनको अग्नि में खूब तपाया और संडासियों से पकड़-पकड़ कर उनके सारे अंगों में उन्हें पहनाया हाथों में पहनाकर कहा कि लो ये कड़े हैं पैरों में पहनाकर कहा कि लो ये चूरा है, गले में पहनाकर कहा—लो ये हार हैं। कमर में पहनाकर कहा—लो यह पेटी है... यों सारे अंगों में अनेक तेज गरम लोहे के आभूषण पहिनाए। अब जरा विचार तो करो कि यह कितने कष्ट का प्रसंग है। इतने पर भी वे मुनिराज अपने आत्मध्यान से नहीं चिंगे। हां उनमें से दो को (नकुल और सहदेव को) थोड़ा उसके प्रति विकल्प चला जिससे वे दो तो मरण कर सर्वार्थ सिद्धि गए और तीन पांडव (अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर) मोक्ष सिधारे। तो ऐसे बड़े-बड़े कठिन उपसर्गों को ऐसे-ऐसे महापुरुषों ने जीता तो उनके सामने हम आपको कौनसी वेदना है? इस सल्लेखनाधारी के बाह्य वस्तुओं में ममता का तो नाम न रहा। जो ज्ञानी होता उसके मरण समय पर किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ में कर्मत्व नहीं रहता। एक तो उसका तत्त्वज्ञान, दूसरे मरण समय की स्थिति का ऐसा ही प्रभाव होता है, कुछ देह की वेदनाएँ ऐसी हो जाती हैं कि जिनसे विकल्प बन सकता है। सो यह श्रावक उन देह वेदना सम्बन्धी विकल्पों से हटने के लिए पुरुषों के उन उपसर्गों की घटनाएँ याद कर रहा। ऐसे अनेक उपसर्गों में समता रस का स्वाद करने वाले धर्मात्मा

हुए हैं।

साम्यभावरूप शकुन के साथ ज्ञानी का देह से प्रयाण—मेरा शरण अन्य कुछ नहीं है। सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना ही मेरा शरण है। इस दुष्ट देह को मैं क्या निरखूँ, इसमें जो कुछ होता है सो होने दो। ऐसी दुष्ट कृतधता ऐसी ही दशा में हुआ करती है। मैं अपने आपके स्वरूप में ही अविचल रहूँगा। यह तो मरण समय उन व्याधियों का मुकाबला करने की होड़ कर रहा है। जिसको एक रास्ता मिल गया अपने आपके स्वरूप में प्रवेश करने का उसके लिए सब मार्ग खुला हुआ है। ये तो सब शकुन की बातें हैं। असगुन तो रागद्वेष मोह है। असगुन तो कुटुम्बीजनों का राग, स्नेह, रोना, खेद यह है। रोग आया तो क्या, जहाँ जिन वचन अमृत कर्ण को सुनने को मिल रहे हैं, जिसमें चिदानन्दस्वरूप भगवान परमात्मा की सुध हो रही है वह वातावरण तो सगुन है। कोई जीव कुछ दिन को ही विलायत जाए या थोड़ा परदेश जाए, बाहर जाए तो लोग सगुन करके भेजा करते हैं। तो जो इस शरीर से सदा के लिए प्रयाण कर रहा है उसको सगुन के साथ भेजना चाहिए, वह सगुन है धर्मध्यान का वातावरण। धर्मध्यान वही तो सगुन है जिसके प्रताप से अगली यात्रा बहुत अच्छी होगी ही, इसमें कोई संदेह नहीं। परिणाम आत्मतत्त्व की ओर रहे, शुभ ध्यान रहे, ज्ञायकस्वरूप ही जिसके ज्ञान में बसे, इस तरह से मेरा मरण हो समझो ऐसे मरण का जो साथी बने वह है मेरा असली मित्र। तो कोई कुटुम्बीजन विपाद करते हैं तो वे मेरे इस समय दुश्मन बन रहे हैं, सदा के लिए मेरा भविष्य बिगड़ रहे हैं। इस ज्ञानी श्रावक सल्लेखनाधारी को किसी भी परतत्त्व में ममता न रही। अब मैं निःशल्य होकर एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ और इस मृत्यु मित्र का बड़ा उपकार मानता हूँ, जो इस अवसर पर मेरी आन्तरिक भावना भी निर्मल हो रही है और भविष्य में मैं धर्म का वातावरण पाऊँगा, ऐसा उपाय बन रहा है। यों सल्लेखना ब्रतधारी श्रावक अपने आत्मतत्त्व की दृष्टि रखता हुआ प्रसन्न बना हुआ है।

स्वभावदृष्टि रखनेवाले ज्ञानी की दृष्टि में विकारचेष्टावों का मिथ्यापरा—सल्लेखना धारण करने वाला यह ज्ञानी अपनी पूर्वकृत चेष्टावों का और स्वभाव का चिन्तन कर रहा है। जो चेष्टाएँ हुई मन, वचन, काय की वे सब मेरा स्वरूप न थी, स्वभाव न थी। वह सब कर्म का प्रतिफलन था और वास्तविक में मैं सहज ज्ञानानन्द स्वरूप उन सब चेष्टावों से निराला हूँ। स्वरूपदृष्टि से देखने पर यहीं विदित होता है कि वे सब चेष्टाएँ मिथ्या थी, मायारूप थी, परमार्थ न थी, सो वे सब पाप मेरे मिथ्या हों। स्वभावदृष्टि मेरी दृढ़ हो। जो कुछ भी अब तक अनादि से संसार में भ्रमण करते हुए चेष्टाएँ हुई हैं वे सब गुप्ति के बिना हुई हैं। मैं मन, वचन, काय को वश न कर सका। वश करने का उपाय सहज आत्मस्वरूप में आत्मत्व मानना था। वह उपाय न बन सका तो मन, वचन, काय की चेष्टा में स्वच्छंद बना, वे सब मेरे स्वरूप की चीज न थी। वे सब मिथ्या हुई अर्थात् मायामय थीं। उनसे हटकर अब मैं अपने स्वरूप की ओर लगता हूँ। अब तक जो चेष्टाएँ हुई हैं सो क्रोध, मान, माया, लोभ के वश होकर सारी चेष्टाएँ हुई। भला जगत में कौनसा जीव मेरा विरोधी है, कौनसा जीव मेरा शत्रु है? लेकिन अज्ञान से क्रोध, मान, माया, लोभ के वश होकर मैं कल्पना कर रहा कि यह पुरुष मेरा विरोधी है। यह मेरा शत्रु है, ये सब कल्पनाएँ कर रहा, ये सब पापकर्म ही किया। जो मेरे स्वभाव में न था, विभावरूप हैं उनका कर्ता रहा। अब दृष्टि में आया अंतस्तत्त्व, इसके प्रसाद से, इसकी झटि के प्रसाद से सब

मिथ्या हो रहे हैं। अब उनके करने की मेरे भावना नहीं हैं। कभी भी इन विकार चेष्टावों को न करूँगा।

पूर्वभूत दुष्कृत पर विषाद और दुष्कृत से हटकर स्वभाव मग्न होने की भावना—यह सल्लेखना ब्रतधारी अपने किए हुए अज्ञान चेष्टावों पर विषाद कर रहा है और अन्तः स्वरूप को निरखकर उस समस्या को सुलझा रहा है, वह मेरा कुछ न था। अज्ञान में क्या-क्या चेष्टाएँ हुईं? कहीं ऐसी कूरता आयी किसी भव में कि जीवों की हिंसा जान-जानकर कर रहा। कितनी बेहोशी थी? वह बेहोशी भी मेरे स्वभाव का काम न था, वह भी कर्म का प्रतिफलन था। जब तक कर्मविपाक में और अपने स्वभाव में भेद न जान पाया था तब तक मैं अन्य कुछ बनता रहा। और इस तरह संसार में भ्रमण करता रहा। हे प्रभु, हे वीतराग सर्वज्ञदेव, तुम्हारी आराधना के प्रसाद से बड़े-बड़े पापी तिर गए, अंजन चोर जैसा जो कि वेश्यागामी था, चोर था वह भी आपकी आराधना के प्रसाद से न भी शुद्ध णमोकार मंत्र जप सका, अशुद्ध जपा लेकिन लगन होने से वह भी धीरे-धीरे मार्ग पाकर तिर गया, सभी जीव पापी ही रहें तो रहें संसार में। जो सिद्ध बने हैं वे भी पापी ही थे, संसार में रुलने वाले थे, उन्होंने आत्मदृष्टि पायी, सन्मार्ग पाया और आत्ममार्ग में लग गए। सिद्ध हो गए, तो हे प्रभु, तुम्हारी आराधना के प्रसाद से मेरी यह आत्मदृष्टि इतनी दृढ़ रहे, जिसके कारण संसार संकटों से सदा के लिए छूट जाएँगे। यह देह तो बन्धन है। देह को मैं रंच भी नहीं चाह रहा हूँ मुझे शरीर आगे मत मिले। यह शरीर मेरा मिटे। अन्य किसी पदार्थ के सम्बंध से मेरे को प्रयोजन नहीं।

अपराध से हटकर निरपराध रहने की भावना—समाधिमरण के अवसर पर जिसको अब विवेक मिला है उसका विवेक बढ़ता जा रहा है, उसकी विरक्ति वृद्धिगत हो रही है, वह आत्मस्वरूप में ही रमना चाह रहा है। जो अपराध किया है अब तक, वह सब अपराध क्या था? अपनी दृष्टि से चिंग जाना। अपराध शब्द में दो शब्द हैं, अप व राध। राध धातु सिद्धि अर्थ में है। अप उपसर्ग विलगाव अर्थ में है। जहाँ सिद्धि न रहे उसे अपराध कहते हैं। समस्त पाप क्यों अपराध हैं? क्योंकि उन पाप प्रवृत्तियों में इस जीव को अपने स्वरूप की सुध नहीं रहती। सो जो-जो प्रमादवश मुझ से पाप हुए, घने पाप हुए सो अब प्रभु के गुणस्मरण के प्रताप से अपने सहज आत्मस्वरूप के स्वभाव की आराधना से सब मिथ्या हो वो यह जीव कुछ नहीं चाह रहा। जो समाधिमरण की विधि में चल रहा है, केवल आत्मस्वरूप का दर्शन, अपने आपका ऐसा अनुभव कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। अपने स्वरूप को भूलकर नाना तरह के विकल्प किया, मैं उसकी निन्दा करता हूँ। मैंने भला नहीं किया। यह निन्दा और प्रायश्चित भी धर्म है, जब तक स्वरूपदृष्टि नहीं आती है जब तक अपने कसूर नहीं मालूम होते। तब तक अपराध अपने आपको विदित नहीं होता जब तक अपनी चेष्टा की निन्दा नहीं करता। मैं उन सब अपराधों की निन्दा करता हूँ और उन सब से हटकर धर्म उपार्जन करके अब मैं स्वरूप में मग्न होऊँगा।

आत्मतत्त्व की उपासना से प्राप्त सुयोग की सफलता—आज जो दुर्लभ समागम पाया है मनुष्यभव, उच्चकुल, इन्द्रिय की पूर्णता, गुजारे की सुविधा, सत्संगति, जिनधर्म की श्रद्धा, जिन वचन का पढ़ना, सुनना, ये दुर्लभ समागम पाए हैं। यदि इन समागमों को पाकर भी मैं अपने आपके स्वरूप को न सम्हाल सका तो वह जीवन धिक्कार है, यह जीवन व्यर्थ है। जैसे किसी कार्य के सारे साधन जुटाने के बाद भी उस कार्य के साधन के

फल से मुख मोड़ लें तो वह उसकी मूढ़ता है। परदेश में जाकर खूब धन कमाकर धन के साथ घर के लिए चले और गांव के निकट कहीं भी योंही फेंक दिया या लुट गया तो उसका सारा कमाना व्यर्थ रहा, ऐसे ही आज जो सर्वसमागम पाए हैं उन समागमों को पाकर यदि हम आत्मदृष्टि में न बढ़ सके तो ये सब साधन पाना व्यर्थ ही तो रहा। इन्द्रिय में आसक्त होकर विषयों की प्रीति ही बढ़ायी, तो मैंने जो कुछ निधि पायी, सत्संगति समागम पाया वह सब हमने खो दिया। ऐसा दुर्लभ अवसर क्या बारबार मिलता है? केवल एक ही दृष्टि होनी चाहिए कि मुझे आत्मधर्म जानना है और आत्मस्वभाव रूप ही अपने को मानना है, यह मैं हूँ विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप, अब उपयोग ऐसा ही बना रहे तो इसके प्रसाद से सर्वकल्याण होगा। विशेष जानकारी नहीं है, नहीं जानते हैं कि किन गुणस्थानों में किस तरह कर्म खिरते हैं लेकिन इसके तो खिरने ही लगेंगे। नहीं जाना मगर काम तो बना। जो अपने को अपने ही सत्त्व के कारण सहज स्वरूप ही उस रूप ही अपने को मान ले तो उसके वे सारे कार्य बनते हैं। कर्म बिगड़ना, विशुद्धि बढ़ना, वीतरागता प्रकट हो जाये सारे कार्य स्वयं होते हैं, जिनका वर्णन ग्रन्थों में लिखा है, और बड़े-बड़े पंडितजन जिसका व्याख्यान किया करते हैं। वह स्वयं यहाँ प्रयोगात्मक बन जाएगा। उपाय केवल एक ही करना है कि मैं अपने सहज स्वरूप को जानूँ और इसही जानन में संतुष्ट रहूँ।

सल्लेखनाधारी की समता व क्षमा—मैं निज स्वरूप को देखता हूँ तो यही स्वरूप सब जीवों में है। सब जीव अपने हैं अर्थात् स्वरूप के समान हैं। इन जीवों में कोई ऐसी छांट नहीं है स्वरूप में कि ये मेरे कहलाएँ और ये पराये कहलाएँ। ये विरोधी कहलाएँ और ये मित्र कहलाएँ। ऐसी जीवों के स्वरूप में छांट नहीं है। सब जीव मेरे स्वरूप के समान हैं। सब जीवों के प्रति समता भाव जगा है। मैं अपने समताभाव में ही बढ़ूँ और समता की वृद्धि के लिए संयमाचरण करूँ। जितना बाह्य पदार्थों से हटकर अपने आपकी ओर ही नियंत्रित होऊँगा समता के भाव वहाँ ही विशेष बढ़ते चले जाएँगे। किसी जीव को मेरे द्वारा कभी कष्ट पहुँचा हो, किसी जीव के प्रति कषाय भी की हो वह सब अज्ञान चेष्टा थी। जो कष्ट पहुँचा हो जगत के सर्वजीव मुझे क्षमा करें। स्वरूपदृष्टि से यह सल्लेखनाधारी सर्व जीवों में एक समान बुद्धि रख रहा है। जगत के समस्त बाह्यपदार्थ सब एक समान हैं, जीव-जीव सब एक समान हैं। पुद्गल में स्वर्ण हो, तृण हो ये एक समान हैं। जो मरण कर रहा है उसके लिए स्वर्ण क्या मददगार है? क्या करणहार है? साथ जाएगा क्या? न तृण साथ जाता न स्वर्ण साथ जाता। कंचन कांच बराबर है। जगत के जीव कोई मेरी निन्दा करें, कोई प्रशंसा करें। प्रशंसक से मुझे कुछ मिलेगा नहीं, निन्दक से मेरा कुछ जाएगा नहीं, वे सब मेरे लिए एक समान हैं। स्थान चाहे सुन्दर हो, चाहे श्मशान हो, चाहे बेहूदा हो, उस स्थान से मेरा क्या प्रयोजन? यह मैं आत्मा निश्चय से अपने प्रदेशों में रहता हूँ। व्यवहारतः मैं इस देह में रहता हूँ, उपचारतः मैं इस क्षेत्र में रहता हूँ। तो वस्तुतः मैं अपने आत्मप्रदेशों में ही रह रहा हूँ। बाह्य क्षेत्र कैसा ही हो मुझे सर्व प्रकार के क्षेत्रों में समताभाव है।

सल्लेखनाधारी का चतुर्विंशतिस्तवन—इस काल में जो चतुर्विंशति तीर्थकर हुए हैं जिस तीर्थ परम्परा में रहकर आज हम धर्मसाधना से उद्यमी हुए वे चतुर्विंशति तीर्थकर मेरे आराध्य देव हैं। उनको मेरा प्रणाम हो। वृषभदेव चतुर्थकाल के प्रारम्भ में तीर्थकर हुए हैं। उन समस्त तीर्थकरों ने अपने आपका कल्याण करके जगत के इन

सब जीवों को उपदेश किया कि आप अपने स्वरूप को जानें और उसही में रमें, यहीं संतुष्ट रहें तो संसार के संकटों से छूटने का उपाय न बनेगा । उन्हीं के जिन वचन को अमृत समझकर मैं उनका पान कर रहा हूँ, उसी उपदेश के अनुसार मैं चलूँगा । मुझे बाह्यपदार्थों से कुछ प्रयोजन नहीं है । वृषभदेव के बाद श्री अजितनाथ स्वामी सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभु, पुष्पदत्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्षमान प्रभु को मन, वचन, काय से नमस्कार हो । जिनकी तीर्थपरम्परा से आज तक यह धर्मप्रसंग चला आ रहा है । जगत में सब चीजें सुलभ हैं, जहाँ चाहे जर्में । जहाँ जर्मेंगे वहीं पौदगलिक ढेर मिलेगा । पुण्यबंध हुआ है तो उसके विपाककाल में कुछ सुहावना ढेर हुआ है, सारी चीजें सुलभ हैं । किन्तु आत्मज्ञान दुर्लभ है । कोई आत्मज्ञान की तुलना करे कि तीन लोक के वैभव के बराबर तो होगा आत्मज्ञान तो उसकी तुलना नहीं की जा सकती । तीन लोक के पुद्गल का ढेर मेरे इस आत्मा के किस काम आएगा? यह सद्गुरु तीर्थकरों के उपदेश से प्राप्त हुई है । सो जिनके प्रसाद से यह उज्ज्वल ज्ञानप्रकाश पाया है उनका बारबार स्मरण करते हैं । उनका आभार मानते हैं ।

सल्लेखनाधारी ज्ञानी का कायोत्सर्ग व साम्यभाव—मैं अब प्रभु के बताए हुए उपदेश के अनुसार समस्त पदार्थों से ममत्व तजता हूँ । कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग कर देना । जब यह कहा जाता है कि पूजा पढ़कर, पाठ पढ़कर कायोत्सर्ग करो तो उसका ठीक अर्थ यह है कि अब आप अपने शरीर में ममत्व छोड़ दीजिए । सो ममत्व छोड़ने के प्रसंग मैं कुछ न कुछ तो शुरुआत चाहिए । कैसे ध्यान का प्रारम्भ करे कि मेरा इस समय शरीर से भी ममत्व छूटे, विकल्प छूटे तो वह प्रारम्भ किया जाता है णमोकार मंत्र से । अर्थात् जिन्होंने इस देह से ममत्व छोड़ा, देह से जो रहित हुए उन आत्माओं का स्मरण किया जाता है । जो पुरुष जिस कार्य को करना चाहता है उस कार्य में जो सफल हैं उनका सम्बंध बनाना चाहते हैं । यह एक लोकनीति है । तो ये कल्याणार्थी पुरुष समस्त पदार्थों से ममत्व तजकर अविकार ज्ञानस्वभाव में रमना चाहते हैं, तो जिन्होंने इस कार्य में सफलता पायी है उन आत्माओं को नमस्कार कर रहे हैं कायोत्सर्ग के लिए, जिनमें से अरहंत सिद्ध साधु इन तीन का ध्यान है । आचार्य उपाध्याय साधु ये तीनों ही साधु कहलाते । उन साधुओं को नमस्कार और उनके गुणस्मरण यह हो रहा है णमोकार मंत्र में और उस साधना के प्रसाद से चार घातिया कर्मों का नाश करते हुए सकल परमात्मा हुए । उनके वीतराग भाव का और इस उज्ज्वल ज्ञानप्रकाश का स्मरण कर रहा है, और अरहंत अवस्था के बाद चार अघातिया कर्मों के विनाश से देहरहित अवस्था हुई है, सिद्ध भगवान हुए हैं उनका स्मरण कर रहा है । तो णमोकार मंत्र के ध्यान से प्रारम्भ करके यह जीव काय से ममत्व को त्याग रहा है । किसी भी एक कार्य को करने के लिए उसकी विधि और मुद्रा बनती है, सो यह मैं कायोत्सर्ग के लिए पहले अपने आपकी दिशाओं को नियंत्रित करता हूँ । मेरा इतने ही क्षेत्र का परिमाण है, इस क्षेत्र से बाहर मेरा इस समय ममत्व का त्याग है । और यह क्षेत्र भी चूँकि रहना पड़ रहा है इसलिए सम्बंध है, वस्तुतः मैं अपने आत्मप्रदेशों में ही रह रहा हूँ । समताभाव, रागद्वेष नहीं है वहाँ किसी परवस्तु में उपयोग नहीं गड़ाया जा रहा है । तो जान जानकर बाह्य पदार्थों का मैं त्याग करता हूँ ताकि उनके आश्रय छूटे

और मेरे विकल्प न बढ़े, और मैं अपने इस ज्ञानानन्दमय स्वभाव में ही बसकर पूर्ण समतारस से पूरित रहूँ ।

स्वभावदृष्टि से अद्भुत समता की महिमा और शरण्यता—सामायिक के समान जगत में दूसरा कुछ भी मेरा उपकारी नहीं है । समताभाव ही मेरा उपकारी तत्त्व है । इस प्रकार यह श्रावक सल्लेखना के समय अपने स्वभाव की दृष्टि को पुष्ट कर रहा है । धर्मपालन वही है, धर्मपालन दूसरा नहीं है, चाहे कोई अपवित्र हो, पवित्र हो, प्रायः करके मरण समय में लौकिक दृष्टि से शरीर अपवित्र ही रहता है । थूक मलमूत्र आदिक कैसी ही दशाएँ रहती हैं । तो चाहे अपवित्र हो, चाहे पवित्र हो, शरीर की बात शरीर में चल रही, धर्म तो आत्मा का आत्मा में है । और आत्मा को ही धर्म की दृष्टि करना है । सो धर्मपालन की बात अन्दर चल रही है । कदाचित इन्द्रिय के शिथिल होने से यह बेहोश भी हो जाए तो इन्द्रियां ही तो बेहोश हुई हैं । आत्मा भीतर सावधान बना रह सकता है । बेहोशी का भी क्या डर? बेहोशी आए तो आए, बेहोशी का प्रभाव बाहर में पड़ता है, अन्दर में नहीं पड़ता । अन्दर तो जैसा संस्कार है, जैसी भावना है वैसाही प्रकाश रहता है, इस तथ्य को कोई बाहरी लोग नहीं जानते अतएव कहा करते कि यह तो बेहोश हो गया । बेहोश होने से मरण नहीं बिगड़ता । वह तो देह की चीज है, उस प्रकार से होगी ही । पर जो ज्ञानी हैं जिनके धार्मिक संस्कार है वे अन्तः प्रकाशमान ही रहते हैं । सो यह मैं सर्व बाह्य पदार्थों से हटकर अपनी इस स्वभावदृष्टि में ही रहूँ और स्वभावदृष्टि करता हुआ इस शरीर से पथान करूँ ।

श्लोक 127

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्जयेत्पानं ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानंपूरयेत्क्रमशः ॥१२७॥

श्लोक 128

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कार मनास्तुनं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८॥

कायसल्लेखना में कर्तव्य—सल्लेखना धारण करने वाले महापुरुष ने तत्त्वज्ञान के बल से विषय कषायों का परिहार किया है । जिसके विषयों की इच्छा नहीं, कषाय के लिए उम्मेंग नहीं उस पुरुष के शरीर की सल्लेखना का अवसर स्वयं ही आ जाता है । जब विषयों की भावना नहीं तो आहार करने की लम्पटता कैसे आ सकती है । सो यह महापुरुष भोजन आदिक की वाच्छा को भी अपकारक जानता और जब यह शरीर ही जा रहा है, मरण अवसर आया है तो इस अवसर में उस भोजन आदिक की गृद्धता करना उचित नहीं है । यह सब समझकर क्रम से जैसा आयु का अवसर दिखता है उस प्रकार इन्द्रिय से ममतारहित होकर आहार के आस्वादन से विरक्त होता है और विचार करता है कि हे आत्मन्! तूने इतना आहार किया कि एक-एक जन्म का एक-एक कण भी इकट्ठा किया जाए तो अनगिनते ढेर लग जाएँगे । अनादि काल से अब तक कितने जीवन पाए, अनन्त जीवन पाए सो एक जीवन का एक ही दाना गिनती के ढंग से इकट्ठा किया जाता तो मेरुपर्वत बराबर अनेक ढेर लग जाते, पर तू आहार से कभी तृप्त नहीं हुआ । अब इस अवसर पर जबकि देह के नष्ट होने का

निश्चय है और फिर भी आहार विषयक वाञ्छा लिए रहेंगे तो इससे कल्याण नहीं है। तूने इतना जल पिया कि एक-एक जीवन का एक ही बूँद इकट्ठा किया जाए तो अनन्त समुद्र भर जाएँ इतना जल पिया। उस जल से भी तेरी तृप्ति नहीं हुई, तो अब जो यह रोग बुढ़ापा के कारण मरण निकट आया है उस मरणकाल में ही तू आहार पानी में चित्त धरे रहेगा तो उससे तृप्ति तो न हो जाएगी। आगे अनेक भव धारण किया जाना होगा, वहाँ भी ऐसी वेदना पाएगा। तो आहार पानी की गृद्धता न करें।

आहारत्याग के अवसर व अनवसर का विश्लेषण—यहाँ एक बात ध्यान से समझना कि जिसका शरीर इस काबिल है कि अभी धर्म कर सकते, नियम से कर सकते, और ऐसे अवसर में भी कोई समाधिमरण करे तो वह आत्मघात कहलाता है, वह अपनी हिंसा है, समाधिमरण तब की चीज है जब यह जाने, मरणकाल आ ही गया। ऐसे अवसर पर व्रत में कोई भंग होता हो शरीर की स्थिति के कारण, जैसे अंधे हो गए, संयम नहीं पल सकता या कुछ बात हो तो वहाँ पर भी विचार किया जाता है कि मैं इस संन्यासमरण को झेल सकूंगा या नहीं। ऐसी स्थिति में भी अपनी शक्ति न देखकर कोई समाधिमरण धारण कर ले और संक्लेश परिणाम से मरण हो जाए तो उस हठ से भी लाभ नहीं है, यह तो धार्मिक बात है, जिसमें अपना धर्म न बिगड़े, धर्म सधे सो कार्य करना। तो यह विवेकी पुरुष जब यह देख रहा है कि अब यह देह न चलेगा, अत्यन्त निकट समय है मरण का तो उस समय यह आहार जल आदिक का ही त्याग करके समस्त वाञ्छावों से रहित होकर अपने आपके स्वरूप का ध्यान करता हुआ शरीर को छोड़कर चला जाता है।

भोजन लम्पटता पर विषाद—यह सल्लेखनाधारी अपने आपको सम्बोध रहा है कि हे आत्मन् ! तूने अनन्त भवों में भोजन पान की गृद्धता की और इस भव को भी पाया तो इस जीवन में भी कितना आहार जल ग्रहण किया। रोज दो-बार, चार-बार, ६ बार तथा स्वच्छंद होकर खूब आहार पान से अपने को खुश रखना चाहा। आहार का लोभी होकर अनेक प्रकार के आरम्भ किया। अमुक चीज खाने की बनाना, यह बड़ी स्वादिष्ट है, चूल्हा जल रहा है, आंसू बह रहे हैं, अनेक उद्यम कर रहे हैं, न जाने कहां-कहां से क्या-क्या चीज बटोरी, न जाने कैसा-कैसा परिश्रम कर रहे हैं, एक आहार के स्वाद के वास्ते ही तो। जीवन भर एक काम किया, आहार का लोभ किया, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि सभी तरह के पापों को भी करना पड़ा, दुर्ध्यान करके खोटी क्रियाएँ की, दूसरे के अधीन हुए, स्त्री पुत्रादिक के अधीन हुए, कितनी ही दीनता आयी, एक आहार के अर्थ ही तो यह सब किया। अनन्तबार आहार कर-करके भी तू तृप्त न हुआ। भक्ष्य अभक्ष्य का विचार न रखा रात दिन का विचार न रखा, आहार की लम्पटता हो गई। कैसी ही प्रवृत्ति की।

रात्रि भोजन का कलंक—जैन कुल में जन्म लेने वाले पुरुषों का यह मुख्य चिह्न है कि रात्रि में भोजन न करना, किन्तु अब रात्रिभोजन एक आम रिवाज सा बना डाला और कोई रात्रि को भोजन न करे, विवाह बारात में गया तो वह मजाक का साधन बन गया। जहाँ ऐसी खोटी बात चल उठे वहाँ फिर जैन कहलाने का हक क्या रहा? कोई पुरुष अकेले ही भ्रष्ट हो जाए, खुद रात को खाने लगे तो यह एक उस व्यक्ति की बात है, उससे परम्परा नहीं बिगड़ती, मगर सामूहिक भोजन, विवाह, बारात, पंगत या अन्य प्रौतिभोज रात्रि को ही करने लगे तो यह तो जैन धर्म पर बड़ा प्रहार किया। अकेला भ्रष्ट हो जाए तो वह उसके अकेले की बात है

मगर जहाँ सामूहिक रात्रि भोजन की प्रवृत्ति चल जाती है तो उसके मायने यह है कि अब इस धर्म के मानने वालों में धर्म प्रवृत्ति न रही। एक आहार पान जो केवल प्राण टिकाने के लिए ही किया जाता है उसे इतना शौक बना डाला कि रात-दिन का भी कुछ विवेक न रहा। यह तो जैन समाज के लिए एक कलंक है। और सामूहिक प्रथा चला दिया तो वह इस समय के अग्रगण्य लोगों के लिए कलंक है। जो मुख्य जन है उनका कर्तव्य यह है कि वे सामूहिक रात्रि भोजन का एक रिवाज न बनाएँ, उस रिवाज को छोड़ दें।

संक्लेश व आसक्ति से हटने का सम्बोधन—अरे अनेक प्रकार से भोजन के पीछे खोटे कर्म किए और उससे भी तृप्त न हुए, तो अब मरण के अवसर पर जहाँ निश्चित है कि कुछ ही समय बाद प्राण चले जाएँगे वहाँ भी यदि आहार जल में वाञ्छा रखी और इस तरह से तृष्णा पूर्वक मरण किया तो शरीर तो आगे भी मिलेगा, दुःख ज्यों का त्योंही बना रहेगा। ऐसा विवेक करके यह ज्ञानी पुरुष आहार की लम्पटता को छोड़ देता है। बहुत विवेक हो तब तो ठीक है, यदि कोई ऐसा ही भावुक हो कि कराऊंगा समाधिमरण, हमारा एक नाम रहेगा कि इन्होंने समाधि मरण कराया। इस धुन में जो रहेगा वह न जाने कितनों का अनर्थ करता रहेगा। विवेकी पुरुष तो दूसरे के आत्मा का हित ही चाहते हैं और हर तरह से समझो। ऐसा त्याग भी न कराना चाहिए कि जिससे यह परखा जा सके कि यह बड़े संक्लेश करके मरण करने लगा।

सामूहिक बिगाड़ से तीर्थप्रवृत्ति का विनाश—देखिये बात तो यह है कि संक्लेश से मरण न होना चाहिए। इसमें दो बातें नहीं हैं चाहे बाह्य त्याग कितना ही कम रहे न रहे, कैसी भी स्थिति बने। यदि संक्लेश रहित मरण होता है और पंचपरमेष्ठियों के गुणस्मरण पूर्वक अपने अन्तः स्वरूप की आराधना पूर्वक मरण होता है तो समाधिमरण यह है। आहार आदिक का त्याग करना यह एक आनुषंगिक है। किसीने कायसल्लेखना किया, आहार जल का त्याग किया पर विषयकषाय की सल्लेखना नहीं की, कषाय रही, ममता रही, नाम की वाञ्छा रही, मरते तो जा रहे और नाम की इच्छा हो रही है, लोग जानेंगे कि इन्होंने कैसा समाधिमरण करके दिखाया? अरे यह तो बहुत खोटा परिणाम है, ऐसी कोई वाञ्छा करे और बाहर से भी कष्ट भोगे और अन्तरंग से भी खोखले रहे तो उसमें तो कुछ लाभ ही नहीं मिलता। सो पहले आत्मा को पूरा सावधान बनाना चाहिए कि जहाँ बाह्य जगत में कुछ भी चाह न रहे, न भोजन की, न नाम की, न प्रशंसा की, कोई भी इच्छा न रहे, यह बात बनती है उसके जिसने सहज आत्मस्वरूप का अनुभव किया है। जबरदस्ती धर्म नहीं हुआ करता, किन्तु भीतर में ज्ञानप्रकाश पाने वाले के धर्म सहज हो जाता है। जैसे कभी प्रवचन सभा में कोई महिला छोटा बच्चा ले आयी है, वह रोने लगा तो उसकी मुख बंद करके उसका रोना नहीं मिटाया जा सकता। उसका उपाय कोई दूसरा ही किया जाता है। ऐसे ही जबरदस्ती भावुकता में आकर समाधिमरण कोई कर रहा हो और बता देंगे दुनिया को कि समाधिमरण ऐसा होता है, ऐसा भाव आए तो समझो कि मेरा सब गया। इतना सावधान होना चाहिए सल्लेखनाधारी को कि उसके केवल अपने आत्मतत्त्व की ही धुन रहे। विषय कषाय में सल्लेखना पूर्वक काय सल्लेखना की चर्चा चल रही है। कोई पुरुषकाय की सल्लेखना न कर सके, ऐसा ही अवसर आए और विषय कषाय की सल्लेखना कर ले तो उसके तो समाधिमरण कहलाएगा, पर जो पुरुषकाय की सल्लेखना तो खूब करे कि अमुक चौज छोड़ा, अमुक चौज छोड़ा हाइडयां निकल आयों पर विषय कषाय की सल्लेखना

न करे तो उसके सल्लेखना मरण न कहलाएगा ।

शारीरिक वेदनाओं में कष्ट न मानने का सम्बोधन—यह विवेकी पुरुष अपने आपको समझा रहा है कि तूने अनन्त जन्मों में ऐसे-ऐसे कष्ट पाए और बड़े कष्टों से मरण किया तो इस मरण समय में तुझे को कष्ट ही क्या है? अनेक बार शस्त्र से कट कटकर मरा, दूसरे व्याप्र शेरों ने तुझे अनेकों बार खाया । अनेक प्रकार से जीवों ने दबोचा, बुरी तरह मरण किया । अब यह तो एक शुभ अवसर है । अनेक धर्मात्माजन निकट बैठे हैं । सबकी यह ही भावना है कि इसके समता भाव जगे । बाह्य का विकल्प हटे और आत्मदृष्टि करता हुआ इसके समताभाव प्रयाण करे । एक कर्मोदयवश शरीर में वेदना आयी तो यह क्या कष्ट है? कर्म का उदय कर्म में है देह की बात देह में है, मेरी बात मेरे में रहे, ऐसी भावना करके इन समस्त कष्टों से मैं अपने चित्त को विमुख करूँ । यह एक शुभ अवसर है । यदि यहाँ चूक गए तो अगला भव जन्ममरण में गुजरेगा । भवों की परम्परा चलेगी, जीवन में दुःख ज्यों के त्यों रहेंगे, यदि समाधिभाव से मरण हो तो कुछ ही भव धारण करके निर्गत्थ दिगम्बर होकर तपश्चरण करके निर्वाणपद पाऊंगा । सदा के लिए संकटों से छूट जाऊंगा ।

आत्मीय सहज आनन्द के अनुभवी को अन्यत्र कष्ट न मानने की सुगमता—जिस पुरुष ने आत्मा के सहज ज्ञानानन्द स्वरूप आनन्दमय आत्मतत्त्व को अनुभवा है, जिसके बैल से यह निश्चय हुआ कि इस आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सार नहीं है । जो आनन्द अपने आपके स्वरूप में लीन होने में है वह आनन्द बाहर कहीं भी रंचमात्र नहीं है । इस अलौकिक आनन्द को जिसने भोगा है उसके लिए समाधिमरण जरा भी कठिन नहीं है वहतो बड़ी प्रसन्नता की चीज है । जीवन में अनेक समारोह हुए, शादी विवाह आदि की अनेक खुशियां आयी अनेक-अनेक उत्सव किया मगर वे सब उत्सव कुछ नहीं हैं । मरणकाल में जो एक आत्मदृष्टि का वातावरण बन रहा है उस समारोह के आगे सारे समारोह फीके हैं । वे क्या उत्सव हैं, वे तो पाप के कार्य हैं और संसार में रुलने की परम्परा बढ़ाने वाले हैं । एक यह मरण समारोह संन्यास पूर्वक, समता पूर्वक आत्मदृष्टि सहित शरीर से पयान करने का यह उत्सव महा उत्सव है । विवेकी पुरुष इसमें अतीव प्रसन्न रहता है । उसकी दृष्टि में उसका आत्मस्वरूप बना हुआ है, और ऐसी आत्मदृष्टि सहित मैं इस शरीर को छोड़कर जा रहा हूँ । है आत्मन्! इस जीवन में धर्मबुद्धि से अनेक उपवास किया, धर्मपालन किया, अनेक वाङ्छाएँ बनी रहीं कि मैं धर्म के लिए ही यह जीवन लगाऊंगा, तो अब उसका ही तो यह अवसर है । यह ही तो परीक्षा का समय है । यहाँ इच्छाएँ न जागें, परिणाम न बिगड़ें, ऐसी साधना रहे तो जीवनभर किए हुए ब्रत, तप का फल मिल जाएगा । यह विषय कषायों की सल्लेखना करता हुआ शरीर की सल्लेखना करने वाला विवेकी पुरुष क्रम से आहार को त्यागता है । यह त्याग मरण समय में परिणाम न बिगड़े इसके लिए भी आवश्यक है । मरण हो रहा है, खाते जा रहे हैं, खांसी आ रही, कफ हो रहा, अनेक प्रकार की बाधाएँ आती हैं । वह स्थिति ऐसी है कि आहार का त्याग करने सेही ठीक गुजारा चलेगा और फिर जब विषय कषायों से विरक्ति हुई है तो आहार की इच्छा कौन करेगा? आहार त्याग करे, दूध पर ही रहे, फिर दूध का भी त्याग कर छांछ पर ही रहे, फिर छांछ का भी त्याग कर दिया । इस प्रकार सर्व वाङ्छाओं से रहित होकर पंच नमस्कार मंत्र में मन को लीन करता धर्मध्यानी हुआ । आत्मप्रतीति सहित सही यत्न से देह को त्यागकर जाना सल्लेखना मरण कहलाता है

।

आत्मघात और समाधिमरण का विश्लेषण—एक यह प्रश्न हो सकता है जैसे कि बहुत से लोगों को संदेह भी चलता है कि यह समाधिमरण क्या है? आत्मघात है। जैसे कोई कुवें में गिरकर मरे तो क्या, आहार पानी त्यागकर मरे तो क्या, आखिर वह आत्मघात ही तो रहा। ऐसा संदेह करने वाला प्रथम तो यह जाने कि जब तक यह देह चल रहा है, धर्मसाधन हो रहा है ऐसी स्थिति में कोई आहार जल का त्याग करे, समाधिमरण करे तो वह आत्मघात कहलाता है और इसका फल अच्छा नहीं निकलता। इस कुबुद्धि से मरण करने वाला पुरुष आगे देह पाएगा, जन्ममरण की परम्परा रहेगी और आगे पाएगा देह खोटा असंयमों वाला। मान लो थोड़ा पुण्य किया था उस प्रभाव से देव भी हो गए तो क्या हुआ? असंयम में ही समय गुजरेगा और यहाँ मनुष्यभव में संयम सहित जीवन गुजर रहा है। तो देह जब तक इस काबिल है कि धर्मध्यान में बाधा नहीं आती, सही ज्ञान चल रहा है, स्वाध्याय सुनना, वाचना चल रहा है तो आवश्यक क्रियाएँ चल रही हैं, ऐसी स्थिति में कोई समाधिमरण का नाम लेकर आहार आदिक का त्याग कर दे तो वह आत्मघात कहलाता है। किन्तु जब ये देखा कि यह तो इस काबिल न रहा कि ध्यान, संयम, तपश्चरण में न रह सके तो जहाँ हमारा धर्म बिगड़ा तो समझो हमारा सब कुछ बिगड़ा कहलाएगा। ऐसे अवसर पर आहार का त्याग करना, सल्लेखना मरण करना धर्म है, क्योंकि धर्म के लिए ही जीवन था और वह धर्म- बिगड़ रहा और यह भी निश्चित हुआ कि यह देह रहेगा भी नहीं, ऐसी स्थिति में आहार आदिक का त्यागकर प्रभु गुणस्मरण में, आत्मदृष्टि में उपयोग रखते हुए मरण करे तो वह धर्म है, समाधि मरण है।

धर्मान्धता में अनवसर मरण ठान लेने में कल्याण का अभाव—यह आज मनुष्यभव पाया, सत्संग पाया, विवेक पाया, संयम भी चल रहा, धर्मध्यान भी चल रहा, महाब्रत अणुब्रत पल रहा, स्वाध्याय, ध्यान, दानशील, तप, व्रत, उपवास आदिक बराबर ठीक पल रहे हैं, जिनेन्द्र पूजा, दर्शन, स्वाध्याय, धर्मोपदेश, चारों आराधनाएँ बराबर अच्छी तरह निभ रहीं और कोई ऐसा गड़बड़ समय भी नहीं है कि कठिन दुर्भिक्ष हो या कठिन बुढ़ापा आया हो या एकदम असाध्य रोग हुआ हो, ऐसी भी स्थिति नहीं है फिर भी एक धर्मान्ध होकर समाधिमरण करने वाले पुरुषों में लोगों की भक्ति देखकर आहार आदिक का त्याग कर मरण कर ले तो वह आत्मघात है। और वह कैसे आत्मघात है कि एक तो इस भव में जो धर्मधारण हो रहा था, धर्म निभ रहा था सो अपने में धर्म का घात किया। मरकर असंयमी बनेंगे। दूसरे भीतर के ज्ञानप्रकाश बिना जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए वचनों के विरुद्ध कोई संन्यासमरण धारण करता है तो वहाँ संक्लेश है और जिनज्ञा का भंग है। कैसा अवसर हो कि समाधिमरण करना, इसका भले प्रकार ज्ञान होना बड़ा आवश्यक है। असंयम में दोनों तरफ से गया। न तो इस भव में शान्ति रही, न आगे भव में शान्ति रहेगी। सो यदि समाधिमरण का अवसर नहीं है, देह में बराबर धर्मसाधना की वृत्तियां चल रही हैं ऐसे अवसर पर आहार आदिक त्यागना आत्मघात है, किन्तु जब देखा कि धर्म संयुक्त शरीर की रक्षा करना तो कर्तव्य था मगर जब देह इस काबिल नहीं है कि उससे धर्म की रक्षा कर सकें तो वह समाधिमरण ग्रहण करता है। जबरदस्ती इस शरीर को छोड़ दिया, मर गए तो हाड़ मांस वाले इस शरीर को छोड़ा तो क्या लाभ हुआ। आगे हाड़ मांस वाला शरीर मिलेगा। छोड़ना तो कार्मण शरीर का

जरूरी है। इन कर्मों को बाहर हटाइए। कर्मों को बाहर हटाने का उपाय है कि कर्मादिक से रहित अविकार स्वभावी इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की प्रतीति करें। सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि के प्रसाद से अपने आप में विशुद्ध आनन्द का अनुभव करें।

समाधिमरण में आन्तरिक व बाह्य शान्त वातावरण की आवश्यकता—समाधिमरण में विवेक का काम चलता हैं। चूँकि अब देह हमारा साथ नहीं निभाता कि हम अपनी क्रिया समिति पूर्वक कर सकें। इसलिए जिसने पहले से ही अनेक उपवासों द्वारा अभ्यास कर लिया है वह आहार आदिक का त्याग करता है। उस स्थिति में इसका उपयोग कहां रहा करता है? प्रभुगुणों के स्मरण में, अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में। तीसरी बात से इसका मतलब न रहा, अगर किसी दूसरी बात से मायने आरम्भ परिग्रह आदिक से या परिचित मित्रजन से इसका कोई प्रयोजन है, बुलाता है, आवो बैठो, अच्छे आए, खूब खबर ली, तो इन बातों में तू अपने परिणाम बिगड़ रहा है, मोह का परिणाम ला रहा है। संन्यासमरण करने वाले से तो इस तरह की बात विवेकी पुरुष की करना ही न चाहिए कि अब हम आ गए, बताओ तुम हमें पहिचानते कि नहीं? अरे इन फिजूल की बातों में क्या रखा है? उसको तो ऐसा योगदान देना चाहिए कि जिससे उसके परिणामों में विकल्प न आए। तो ऐसे बाह्य विकल्प त्यागकर आत्मगुणस्मरण सहित मरण करना समाधिमरण कहलाता सो प्रत्येक कल्याणार्थी का लक्ष्म होना चाहिए कि मैं जीवन में ऐसा धर्मकार्य करूं कि मरण समय भी मेरा परिणाम बिगड़े नहीं और समतापूर्वक मरण करके मोक्षमार्ग में प्रगति करूं।

तत्त्वज्ञान के बल से इन्द्रियविषयों के परिहार की सुगमता—सर्व इन्द्रियों में बाधा देने वाली इन्द्रियां हैं तो स्पर्शन, रसना ये दो हैं और इनकी सहयोगी है चक्षुइन्द्रिय, क्योंकि इन्द्रिय विषय में विशेष बढ़ें इसका प्रारम्भ होता है चक्षुइन्द्रिय से। देखा तो इच्छा बढ़ी, देखा तो अनेक वासनाएँ जगी। तो वहां सभी इन्द्रियां बाधक हैं, निरन्तर के प्रयोग में ये दो इन्द्रियां अधिक बाधक हैं—रसना इन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय। इनकी ही स्वच्छन्दता से फिर यह जीव स्पर्शनइन्द्रिय में बढ़ता है, कामसेवन में बढ़ता है। यदि इन दो इन्द्रियों का सहयोग न मिले तो उसका ब्रह्मचर्य पालन बहुत सुगम होता हैं? सो देखो सुयोग की बात अन्य इन्द्रिय पर ढक्कन नहीं लगा है। वैसे हम चाहें कि कुछ सुने नहीं तो अपने आप हम कान कैसे बन्द करें नाक को कैसे बन्द करें। अगर चाहें कि हमें कुछ चखना, बोलना ही नहीं हैं तो ओठों को बंद कर लीजिए। यहाँ दो ओठ मिल गए। इन दो इन्द्रियों के जो दो ढक्कन मिले ये इसलिए मिले हैं कि इनका उपयोग करें। दोनों पलक मूंदकर आंखें बंद करें, ये दो बातें जिसके चलती हैं, जिसके लिए मन का नियंत्रण भी चाहिए उसके लिए कषायों का त्याग करना आसान हो जाता है। तभी समाधिमरण के अवसर पर यह ध्यान दिलाया गया है कि आहार का त्याग करें जिससे चित्त यहां वहां न तुले।

आत्मधर्म वैभव की रक्षा के लिए कायोपेक्षा—यह आहारत्याग कुछ भावुकता वाला त्याग न होना चाहिए। किन्तु जब यह देखा कि इस घर में आग लग रही है तो अब क्या करें घर में आग लगने दो, मगर वहां जो हीरा जवाहरात रत्न रखे हैं उनको झट निकाल लें, ऐसे ही इस देह में आग लग रही है मायने रोग है, व्याधि है, वृद्धता है। शिथिल हो गए, अब यह किसी काम का ही न रहा तो इस देह की ऐसी स्थिति होती तो होने

दो, मगर इसको खतम करके अपने रत्नत्रय सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र निधि की तो रक्षा करले । कहीं,, इस देह के ममत्व के कारण रत्नत्रय नष्ट नहीं जाए और होगा ही, यदि देह में ममत्व है । तो आहार आदिक के त्याग का मूल अभिप्राय यह है कि मेरा रत्नत्रय न बिगड़ जाए, सो रत्नत्रय बिगड़ने लायक जब देह की स्थिति बन जाती है उस समय त्याग बताया है, क्योंकि इस ज्ञानी जीव का लगाव अपने स्वरूप से है देह से नहीं है इसलिए सर्व कुछ त्याग करना उसके लिए बहुत आसान रहता है ।

सल्लेखनामरण करने वाले को परम शान्त वातावरण की आवश्यकता—समाधिमरण करने वाला पुरुष यह चाहता है कि यहाँ का वातावरण शान्त रहे । कोलाहल न हो, कोई मोह ममता राग की बात कहने वाला नहीं और कुटुम्बीजनों का आवागमन न हो । अन्य धर्मात्माजन जो मोह रोग के विषयभूत न थे उन्हीं पुरुषों द्वारा धर्मश्रवण करने को मिले ऐसी उसकी भावना रहती है । और जो योग्य विवेकी समाधि कराने वाले पुरुष हैं उनको इस तरह का परिचय रहता है समाधि मरण करने वाले की आवश्यकता का कि यह ममता से छूटे । वह जोर से समाधि मरण न सुनाएगा । जब यह देखेंगे कि यह अपने ध्यान की ओर बढ़ रहा है तो वह सुनाना बंद कर देगा । किसी भी प्रकार का अशान्त वातावरण न हो और इसके ध्यान में बाधा न आए, इस सब रहस्य को, बात को जानने वाला होता है निर्यापक जो समाधिमरण कराने वाला है तो ऐसी बड़ी सद्भावना से सल्लेखना को धारण करने वाले पुरुष ने अपने आपको पूर्ण सावधान रखा । अब यह आराधक सल्लेखना के किसी भी अतिचार को लगने नहीं देता । वह अतिचार कौन हैं सो आचार्य बतलाते हैं—

श्लोक 129

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदानामानः ।

सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समुद्दिष्टाः ॥१२९॥

(१) **सल्लेखनाधारी** द्वारा सल्लेखना **जीविताशंसानामक** प्रथम अतिचार का परिहार—जीने की इच्छा करना, सल्लेखनाधारी ज्ञानी पुरुष क्यों चाहता है कि मैं और जीऊँ ? क्या प्रयोजन है जो लोग चाहते हैं कि मैं और जिन्दा रहूं तो उसका प्रयोजन होता है ममत्व का । मैं घर में और बना रहूंगा तो बाल-बच्चों को और भी देखता रहूंगा, मेरा यहाँ बड़ा यश नाम फैला है । लोगों से बड़े राग के वचन मिला करते हैं, ऐसा मौज और लूंगा, ऐसी ही कुछ भावना होगी जिससे कि वह चाहता है कि मैं और जिन्दा रहूं । और जीने की इच्छा की आधार तो अज्ञान है जिससे चाहता है कि मैं और जिन्दा रहूं । तो जीने की इच्छा का आधार तो अज्ञान है । जो यह जान रहा कि जीना और मरण क्या है । एक देह में आ गए उसे लोग जीना कहते हैं । देह को छोड़कर चले गए उसे मरण कहते हैं, यह देह तो पौद्गलिक है । मेरे स्वभाव से, स्वरूप से अत्यन्त भिन्न है, इसका मुझे क्या लगाव? यहाँ न रहे और जगह चले गए, जिन जीवों से परिचय है वे भी सब मायामयी हैं, जो दिख रहा है । जो परमार्थ है वह अविकार ज्ञानस्वरूप है । परमार्थ से पहिचान क्या? और पहिचान है तो विलक्षणता नहीं रहती, जहाँ विलक्षणता जंचे उसी को ही तो पहिचान कहते हैं, जब सर्व जीव स्वरूप स्व चैतन्यमात्र ही निगाह में रहे फिर वहाँ परिचय क्या कहलाएगा? सो किसी भी जीव के परिचय का क्या प्रयोजन? सल्लेखना धारी

जीने की इच्छा नहीं करता, आचार्य देव ने बताया है आत्मानुशासन में कि जिनको धन की आशा लगी हो या जीने की आशा लगी हो उनके लिए कर्म-कर्म हैं और जिन ज्ञानियों ने जीने की आशा को त्याग दिया है, धन वैभव की आशा को त्याग दिया है उनके लिए अब कर्म क्या करे? कर्म का जोर दो बातों तक है। सो कर्म की इन दोनों मेहरबानियों को जो ठुकरा देता है उसके अब कर्म का क्या लगेगा? जीने की आशा सल्लेखनाधारी सम्यगदृष्टि के नहीं होती। अगर यह भावना आए तो यह दोष है और यह ही दोष बढ़ बढ़कर सम्यक्त्व का घात कर सकता है। एक यह बात बहुत स्पष्ट है कि मैं स्वतंत्र सत् हूँ, परिपूर्ण हूँ। मेरे स्वरूप में किसी अन्य से कोई बाधा नहीं आती, जहाँ भी हो, मैं अपने परिपूर्ण स्वरूप वैभव को लिए हुए ही जाऊंगा उसको मरण का भय ही नहीं है। जीने की इच्छा फिर क्यों करेगा?

(२) सल्लेखनाधारी हारा मरणशंसानामक सल्लेखनातिचार का परिहार—सल्लेखना का दूसरा अतिचार है मरने की इच्छा करना। कभी कोई कठिन वेदना आ जाती है तो यह मनुष्य सोचने लगता कि मैं मर जाऊं तो अच्छा है। ऐसा सोचने वाला कोई बिरला ही होगा। अब्ल तो कैसी भी कठिन स्थिति हो तो भी मरने की इच्छा किसी के नहीं बने। एक बुढ़िया जो कि शरीर से बहुत दुर्बल थी, अत्यंत वृद्ध थी। उसको उसके नाती-पोते बड़ा हैरान करते थे तो वह सबसे ऊबकर रोज-रोज भगवान से प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान तू मुझे उठा ले याने मैं मर जाऊं। एक बार उस बुढ़िया के पास कोई सर्प निकल आया तो वह चिल्लाने लगी, अरे नाती-पोते दौड़ो, देखो सांप निकल आया। तो वहाँ कोई नाती बोला—अरे बुढ़िया दादी तू मत घबड़ा, तू जो तेज-रोज भगवान से प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवन मुझे उठा ले, तो भगवान ने तुझे उठाने के लिए यह सांप भेजा है, तू मत घबड़ा। आज तेरी वह मंसा पूर्ण हो जाएगी। तो फिर वह बुढ़िया बोली अरे-अरे बचाओ-बचावो सांप निकल आया है। तो बाहरी परिस्थिति कैसी भी हो, पर यह जीव मरना नहीं चाहता। सम्भव है कि कोई ऐसी ही कठिन बात हो कि जिससे वह मरण चाहता है। दूसरे लोग तो कह तक देते हैं कि इससे तो अच्छा है किं यह चल देता घर के मित्र परिजन बड़े प्रेमी भी कहते हैं उसके दुःख को देखकर इससे तो अच्छा था कि इसका चोला छूट जाता। वह चाहे मन से कहने लगें, पर मरने वाले का मन नहीं चाहता। और यदि कभी किसी स्थिति में चाहे तो मरने की इच्छा करना सल्लेखना का दोष है।

(३) सल्लेखनाधारी द्वारा भयनामक सल्लेखनातिचार का त्याग—सल्लेखना का तीसरा अतिचार है भय। अब मरण समय आ रहा, पता नहीं कैसा दुःख होगा, कैसा यह जीव बनेगा, पता नहीं क्या कठिन परिस्थिति आएगी। वह दुःख मैं कैसे सहूंगा ऐसा भय सम्यगदृष्टि जीव के नहीं होता। एक कुछ प्राकृतिक बात सी है कि जब तक जीवों पर दुःख नहीं आता तब तक यह जीव बहुत डरता है कि पता नहीं अब क्या होगा, पता नहीं कैसा क्या बीतेगी, और जब दुःख आ जाता है तब उतना भय नहीं रहता। भले ही प्रायोगिक वेदना हो जाए मगर भीतर मैं दिल इतना भय नहीं करता। आता है तो उसे धीरता से सहता है, तो जिस जीव को जो भी दुःख आता है वह सहता ही तो है। आयगा दुःख तो वह भी गुजर जाएगा। समय आता है, जाता है, जीव को किसी भी प्रकार का उस मरणकाल में भय नहीं रहता है। उसका एक निर्णय बन गया कि मुझे तो जाना ही है, संसार की रीति ही है। बाह्य पदार्थ तो जब जिन्दा थे तब भी मुझ से भिन्न थे, जो मेरा न था वह मेरे से

छूट रहा है । जो मेरा है वह मुझ से छूट नहीं सकता । तो ऐसा अपने आपके स्वरूप में लगाव है कि जिसके कारण इस जीव को कुछ आकुलता नहीं चलती ।

(४) सल्लेखनाधारी द्वारा मित्रस्मरणनामक सल्लेखनातिचार का परिहार—सल्लेखना का चौथा अतिचार है मित्रस्मरण । मरते समय कुटुम्बीजनों का, मित्रजनों का याद करना । कितनी बेहदी बात है कि मर रहा है, कुछ ही मिनट में यह शरीर छूट रहा है पर यह याद कर रहा कि अमुक भाई नहीं आए, उनको बुला देना । अमुक मुन्ने को हमारे पास बैठाल देना, और कोई अगर मुन्ने को छाती पर भी धेरे तो क्या उसका कल्याण हो जाएगा? अकल्याण ही हो रहा है । ऐसा विवेकी पुरुष मरण के समय किसी की याद नहीं करता जिससे कि राग हुआ हो । द्वेष जिससे किया है उसकी तो याद करने लगेगा कि उसको बुला लो क्षमा मांग ले, मेरे द्वारा उसको कष्ट हुआ है मगर जिनसे राग रहा उनकी याद न करेगा । अगर मित्रजन, बंधुजन का स्मरण करते हैं तो वह सल्लेखना का दोष है । और यही स्मरण का दोष बढ़-बढ़कर इसके सम्यक्त्व को भी बिगड़ सकता है । क्या प्रयोजन पड़ा है जिनसे राग है उनको बुलाने का । क्या कहना चाहेगे? यह ही कि कुछ प्रेम दिखावोगे, मैं जा रहा हूँ, कुछ दुःख ही तो बताओगे । इनको छोड़ कर जा रहा हूँ । अरे जो ऐसा रोता हो उसका कल्याण कहां रखा है ? तो विवेकी सल्लेखनाधारी पुरुष मरण समय में अपने मित्रों का स्मरण नहीं करता ।

(५) सल्लेखनाधारी द्वारा निदाननामक सल्लेखनातिचार का परिहार—सल्लेखना का ५वां अतिचार है निदान । मैं अगली पर्याय में सेठ बनूँ, देव बनूँ, इस प्रकार की भावना बनाना निदान है, निदान करने का कुछ फल नहीं है ठीक । हां यह बात होती है कि जिसके पुण्य विशेष है उसको होनी थी बहुत बड़ी बात और मांग लिया छोटी बात तो उस छोटी की भ्रान्ति हो जाती है, पर जितना पुण्य है गांठ में उसके उतना कोई मांगे तो भी न मिलेगा, उससे अधिक कोई चाहे तो भी न मिलेगा । हां महान फल मिलने का था लौकिक बातों में और उसने अल्प मांग लिया तो अल्प मिल जाना उसके लिए बन जाता है । उस निदान से कोई लाभ नहीं है । जो सम्यग्दृष्टि है उसके ऐसा भाव बनता नहीं है कि मैं मरकर यह बनूँ यह बनूँ उसकी पर्याय में बुद्धि नहीं अटकती । वह अपने स्वरूप में ही रमने का भाव और प्रोग्राम रखता है । तो मर कर मैं धनी बनूँ आदिक वाञ्छा करना चह निदान नाम का अतिचार है । सल्लेखनामरण में इस जीव ने पर और परभावों का त्यागकर केवल अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप का आलम्बन लिया है । जो मैं सहज अपने सत्त्व से हूँ सामान्य ज्ञान प्रतिभासमात्र, उस ही मैं अनुभव करता मैं यह हूँ । यह है महान् पुरुषार्थ । धर्म इसही भावना से है । अन्य जो बातें की जाती हैं सो इसही सिद्धि के लिए की जाती हैं । अगर इस सहज स्वरूप की सिद्धि का लाभ नहीं है तो धर्म के जितने भी कार्य किए जाते हैं पूजा हो, वंदन हो, यात्रा हो, जो कुछ भी हो, वे धर्म का रूप नहीं बन पाते । थोड़ा मंद कषाय हो तो पुण्य बंध जाएगा । सो यों समझिए कि पुण्य तो अन्य कार्यों में भी बंध जाता, किसी भूखे को खिला दिया आदिक कार्यों में पुण्य ही बंधता है कुछ और मंद कषाय हुई तो अन्य धार्मिक कार्यों में भी तनिक पुण्य अधिक बंध गया, मगर धर्म नहीं मिल पाता है । जिसमें आत्मा के स्वरूप का परिचय नहीं है । उस स्वरूप में ही यह मैं हूँ, ऐसी भावना नहीं बनती, न लक्ष्य बनता, उसको धर्म का मार्ग नहीं मिल पाता ।

ज्ञानस्वभाव की आराधना का अन्तिम फल निर्वाण—यह सल्लेखनाधारी पुरुष बाह्य समस्त ग्रन्थों का त्यागकर

याने परिग्रह को त्यागकर एक स्पष्ट ज्ञानमात्र स्वरूप का आलम्बन रखता है। समस्त देहादिक का ममत्व छोड़कर संन्यास धारण कर रहा है। उसको जीने की इच्छा, मरने की इच्छा, ऐसा अतिचार कहां सम्भव है। यह मरण और नए जन्म का अवसर एक बहुत बड़ा परिवर्तन है और इस आधार में यदि चित्त में प्रसन्नता है, आत्मा में समता है, बाहरी पदार्थों में ममता नहीं है तो यह उसके लिए इतना बड़ा उत्सव है कि इससे बढ़कर मेरे लिए कोई उत्सव नहीं हो सकता। तो ऐसे सल्लेखना महोत्सव के समय यह सल्लेखनाधारी पुरुष इन ५ अतिचारी से रहित होकर चार आराधनाओं में लग रहा है। कोई इच्छा नहीं है, यह ही तपश्चरण है। यह ही आत्मस्वरूप का निरखना तपश्चरण कहलाता है, यह ही मेरा रत्नत्रय है। ऐसी आराधना सहित यह जीव शरीर से पयान करता है तो वह महान ऋद्धि वाला देव बनता है। सो वहाँ पर भी चूँकि धर्म के संस्कार में रहकर मरण किया तो देव पर्याय में भी उस धर्म का संस्कार चलता है जिससे उसका उपयोग भोगों में न रमकर जिनेन्द्र भक्ति में, कल्याण महोत्सव में, अकृत्रिम चेत्यालयों की यात्रा में, बंदना में अथवा धार्मिक सभावों में तत्वचर्चा में उनका समय व्यतीत होता है। इस समय कोई विशिष्ट धर्मसाधना बनाए तो उसको देवगति में ही जन्म लेना पड़ेगा, वह जन्म भी अच्छा नहीं है यह जान रहा है तो भी और क्या गति हो, पर वहाँ भी जाकर अप्सराओं में न रमना, विशेष कोई विकल्प न करना, कोई ऋद्धि आदिक की तृष्णा न जगना ऐसा उसका सद्विचार रहा करता है। सो वहाँ सागरों पर्यन्त आराम से रहता है। अन्त में आयु का क्षय होने पर यह मनुष्यभव प्राप्त करता है। सो जैसे यहाँ देखते हैं किसी बालक को कि वह बड़ा गम्भीर है, बचपन में ही उसमें अनेक गुण आए हैं तो यह अनुमान होता है कि यह किसी अच्छे पूर्वभव से आया हुआ जीव है। सो ऐसा वह ज्ञानी मनुष्यभव पाकर वैराग्य से वासित होकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा में धर्म साधना करके मोक्ष को प्राप्त करता है। तो आखिरी सर्वोक्तृष्ट उपादेय स्थिति है मोक्ष। तो उस मोक्ष में क्या स्थिति होती है, जीव कैसे रहते हैं उस सबका अब वर्णन करते हैं।

चौथा अधिकार

निःश्रेयस-मोक्ष का स्वरूप

श्लोक 130

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधम्।

निःजिवति पीतधर्मा सर्वेदुःखैरनालीढः ॥१३०॥

धर्माचरण वाले भव्यात्मावों को अभ्युदयपूर्वक मोक्ष का लाभ—अपने जीवन में व्रत, तपश्चरण, संयम करने वाले और मरण समय में सल्लेखना धारण करने वाले पुरुष के परिणामों की निर्मलता के प्रताप से यह जीव उत्तम कुल भव पाकर मनुष्यभव में निर्ग्रन्थ व्रत लेकर अन्तस्तत्त्व की अभेदोपासना के बल से मोक्ष को प्राप्त होता है। यह सब आत्मा के सहजस्वभाव रूप धर्म की दृष्टि का और उस धर्म में मग्न होने का प्रताप है। इस मोक्ष में यह जीव सर्व दुःखों से मुक्त होकर आनन्दामृत का पान करता है इसी को कहते हैं निःश्रेयस। श्रेयस

मायने कल्याण के हैं और निः का अर्थ है सम्पूर्ण रूप से । सर्वरूप से कल्याणमय स्थिति को निःश्रेयस कहते हैं । यह जीव अम्युदय को प्राप्त होकर निःश्रेयस को प्राप्त होता है । वह अम्युदय क्या है? उत्तम देवपर्याय में उत्पन्न होना और वहाँ असंख्यात वर्षों तक आराम में रहकर धर्म की प्रीति करके प्रसन्न रहना । स्वर्गों में जो दक्षिण दिशा के इन्द्र हैं वे एक भवावतारी होते हैं । एक भव मनुष्य का पाकर मोक्ष जाते हैं । लौकांतिक देव एक भवावतारी होते हैं । पंच अनुत्तर में से चार अनुत्तर के देव दो भवावतारी होते हैं, मनुष्य के दो भव पाकर मोक्ष जाएँगे । सर्वार्थसिद्धि के देव एक भवावतारी होते हैं । श्रावक १६ स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं । मुनिजन सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं । तो यह श्रावक जिसने कि निर्दोष विधि से जीवन में व्रत का पालन किया और अन्त समय में सर्व ममत्व दूर कर अपने स्वरूप में स्थिर होता, ऐसा पुरुष मरण करके १६ स्वर्ग तक उत्पन्न हो लेता है । उसमें कौन श्रावक किस स्वर्ग तक जा सकता है यह संहनन के अनुसार निर्णय है । जैसे छठे संहनन वाला श्रावक ८वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो पाता है । यह संहनन आज है सो आज का श्रावक उत्तम परिणाम से रहा ही और अन्त में समाधिमरण किया हो वह ८वें स्वर्ग तक जा सकेगा ।

सम्यग्वद्विष्टि पुरुषों की देव और मनुष्यों के अभ्युदय को पाकर निर्ग्रन्थ होकर मोक्ष पाने की रीति—प्रायः ऐसी संख्या अधिक है सिद्ध होने वालों में कि जो मनुष्यपर्याय से देव पर्याय में गए और देव पर्याय से मनुष्य होकर मोक्ष गए । उनकी संख्या उन सबसे अधिक है जो नरक से आकर मनुष्य होकर मोक्ष गए या तिर्यज्ज्व से मनुष्य बनकर मोक्ष गए या मनुष्य से मनुष्य बनकर मोक्ष गए । इन तीनों से संख्या उनकी अधिक है जो देव पर्याय से आकर मनुष्य होकर मोक्ष गए । मोक्ष जाने वाले धर्मप्रेमी जीव ही तो होते हैं । और जिनको धर्म में रूचि है ऐसे पुरुष देवपर्याय पाएँ और वहाँ से चलकर मनुष्य होकर मोक्ष जाए यह हुआ करता है । प्रायः क्योंकि कोई भी सम्यग्वद्विष्टि ब्रती मनुष्य यदि पहिले आयु न बंधी हो तो अन्त में देवायु बांधकर देवगति में जाएगा या देवायु बांध ली हो पहले तो देवगति में जाएगा । सम्यग्वद्विष्टि मनुष्य भी सम्यक्त्व के रहते सहते आयु बांधेंगे देवायु ही बांधेंगे । धर्मप्रेमी आत्मा ही मोक्ष जाते हैं और उनके देव पर्याय पाना प्रायः होता है । सो यहाँ तक का संकेत दिया है कि जिसने धर्म का आचरण किया है ऐसा धर्मात्मा श्रावक स्वर्ग में महर्द्विक देव होता है और वहाँ से चयकर मनुष्यों में उत्तम मनुष्य होता है । धनिक हो, राजा हो, ऐसा ऊंचा भव पाकर फिर वहाँ से विरक्त होकर संयम अंगीकार करके समाधिबल से निर्वाण की प्राप्ति करते हैं ।

निर्विकार निर्लेप निस्तरंग सिद्ध भगवंतों की शाश्वत निःश्रेयसरूपता—वह निःश्रेयस तीर (तट) रहित है अर्थात् वह मोक्ष पर्याय कभी मिटेगा क्या? न मिटेगा, उसका किनारा न आएगा । अनन्त काल तक वे सिद्ध अवस्था में रहेंगे । अब जरा अपने आप पर दया करके अपनी बात निरखें कि मुझ को क्या ऐसा ही कर्मसहित रहकर संसार में जन्य मरण करना है या सारे विकल्प छोड़कर एक आत्मद्विष्टि सहित इस तत्त्वज्ञान के बल से अपने की निर्मल बनाना है । भव-भव में नए-नए जीव मिलते हैं । स्त्री, पिता, माता, पुत्रादिक के रूप में जो असंज्ञी जीव है वहाँ तो यह नाता नहीं चलता, पर संज्ञी जीवों में मनुष्य और तिर्यज्ज्वों के ये नाते चलते हैं और देवों में भी माता पिता पुत्र तो नहीं होते मगर देवांगनाएँ संग रहती हैं । तो हर एक भव में नए जीव मिले और वहाँ मरने की आदत के कारण उनसे मोह बढ़ाया, अन्त में वियोग होगा, मरण होगा, फिर दूसरे जीव मिलेंगे । तो

नये-नथें जीव और प्राणियों को अपना कुटुम्ब मानकर मोह करने का कष्ट करते रहना यह क्या इस भगवान् आत्मा को शोभा देता है? व्यर्थ ही क्यों बन बनकर दुःखी हो रहा है। आनन्द स्वरूप तो स्वयं है। अपने स्वरूप की सुध न करके क्रोध, मान, माया, लोभ के वश होकर बाह्य पदार्थों से राग बढ़ाना, द्वेष करना ऐसी बेकार की चेष्टाएँ करके दुःखी होते रहना ही पसंद है क्या? अथवा सिद्ध अवस्था प्राप्त कर अनन्तकाल के लिए धर्मास्तिकाय आदिक शुद्ध पदार्थों की तरह सदैव शुद्ध रहना है। निर्विकार होने की शुद्धता को पसंद करें अन्यथा यह जीवन बेकार रहेगा।

सिद्धपना पाने के लिए एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व के अनुभव की अनिवार्यता—जो सिद्ध भगवन्तों की शुद्धता को पसंद करता है और उसका प्रयत्न चाहता है तो उसे यहाँ ही निरखना होगा अपने को कि सर्व चेतन अचेतन पदार्थों से निराला हूँ। ‘केवल अपने सहज ज्ञानस्वरूप हूँ’, यह बात क्या अपने में दृढ़ता के साथ जमी हुई है? यदि नहीं जमी हुई है तो यह बड़े खेद की बात है। केवल ऊपर धार्मिक बाना रखने से तो कार्य न बनेगा। जैसे कहते हैं कि कागजों के फूल से खुशबू नहीं आती ऐसे ही इस बनावट से सच्चाई प्रकट नहीं हो सकेगी। बनावट क्या है? पर्याय बुद्धि होत सन्ते जो कुछ भी चेष्टाएँ हैं, मिथ्या भाव हैं। बनावटी पुरुष धर्म में स्थित नहीं है। श्रावक भी अपने देह को देखकर और कुछ अभिमान रखे, मैं रोज जाप देता हूँ, मैं रोज पूजा करता हूँ, इतना धर्म का कार्य करता हूँ, उपवास करता हूँ। १०-१० दिन तक उपवास कर लेता हूँ, भीतर नाता लगा है देह से और देह को देखकर ही मान रहा कि यह मैं हूँ और उस मैं की बात कर रहा तो क्या वह धर्म मार्ग में स्थित है? नहीं स्थित है।

सहजज्ञानानन्दमय अन्तस्तत्त्व के सत्याग्रह में आत्मप्रगति—भैया, जो व्रत तपश्चरण आदिक की भी क्रियाएँ हैं उनको भी यदि कोई हठ पूर्वक पालता है, हठपूर्वक पालन को मायने उन व्रतों में एकान्त बुद्धि रखते हैं, ऐसी समिति से ही चलना है, इसी से मोक्ष मिलेगा। मैं अपने व्रतों को निर्दोष पालूँ, रंच भी कमी नहीं रहे ऐसी मन वचन काय की चेष्टा हो। ऐसा हठ पूर्वक व्रतों का पालन धर्म मार्ग में नहीं बताया। व्रत तो निर्दोष होना चाहिए मगर व्रतों के पालन के विकल्प की हठ न होना चाहिए। व्रतों के पालने की विकल्प की हठ उनके होती है जिनको आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय नहीं मिला और उस सहज चैतन्य स्वरूप के उपयोग द्वारा अलौकिक आनन्द का अनुभव नहीं जगा उनके केवल व्रतों में हठ रहती है, पर जिन्होंने आत्मा के सहज चैतन्य स्वभाव को जाना है उसकी बारबार दृष्टि करके स्पर्श किया है अलौकिक आनन्द पाया है उस पुरुष के जब मन वचन काय की चेष्टाएँ होती है तो व्रत के अनुसार होती है और उसके ये क्रियाएँ सुगम सहज थोड़े प्रयास से चलती रहती है। ऐसी धर्मदृष्टि पूर्वक व्रत पालन कर मोक्ष मार्ग में बढ़ता है और अज्ञानवश हठपूर्वक द्रव्य व्रतों का पालन विनय व नम्रता को नहीं आने देता कि जिस नम्रता के कारण यह उपयोग अपने सहज स्वरूप की ओर नम जाय, अभिमुख हो जाए। जैसे तीव्र गर्मी में समुद्र का जल भाप बनकर उड़ता है और वह जल भाप की शक्ति बनकर आसमान में डोलता रहता, जिसे लोग कहते हैं बादल। इन बादलों का डोलते रहना चलता रहता है। बादल चारों दिशाओं में भ्रमण करते हैं, जब इन बादलों में नरमी आती है, वर्षा ऋतु आती है तो ये बादल नीचे बरस जाते हैं। बरसने के बाद यह पानी नीचे की गली से चलता हुआ अर्थात् नीचे ढलाव

से ढलता हुआ आखिर उसी समुद्र में मिल जाता है। समुद्र से भाप उठी और ये बादल उड़ते रहे, गड़गड़ते रहे, भटकते रहे और जब ये नम्र होकर बरसे बहे तो नीचे की ओर बहकर अन्त में समुद्र में ही मिल जाते हैं। ऐसे ही हम आप जीवों का उपयोग इच्छा विषय कषाय की गर्मी के कारण संतप्त होकर अपने ज्ञान समुद्र से हटकर बाहर डोलता है। गड़गड़ता है, दुःखी होता है, भटकता रहता है। वह भटकने वाला उपयोग जब कभी नरमी पाए नम्र बने अपने स्वरूप की सुध हो तो यह उपयोग बरसकर नीचे आकर अपनी ओर आकर नम्रता और विनय की गली से बहकर इस ही ज्ञान सरोवर में जब मिल जाता है तो यही कहलाया समाधिभाव। ऐसी उपासना से यह जीव निर्वाण प्राप्त करता है।

परमसुखाम्बुधि की दुस्तरता—यह सुख समुद्र दुस्तर है, जिसको पार करना, तिरना कुछ मुश्किल है पर एक ज्ञानकुञ्जी मिलने पर कुछ मुश्किल नहीं है। खुद ज्ञानस्वरूप है और खुद का ही ज्ञान न बन पाए यह तो उस जैसा अचम्भा है जैसे पानी में मछली रहती है और वह प्यासी बनी रहे। यह कितना अन्याय चल रहा है अपने आप पर कि ज्ञानस्वरूप होकर भी स्वयं को नहीं जान पा रहे और राग द्वेषवश बाह्य पदार्थों के जानने का नाटक कर रहा है। जो भव्य जीव अपने आपके स्वरूप को जानता है, उसही की धुन बनाता है, उसही की हठ करता है वह पुरुष योग्य तपश्चरण आदिक विधि से निर्वाण को प्राप्त होता है। आग्रह की हठ हो तो वह अपने आपके सहज स्वरूप की दृष्टि के लिए हो। अन्य जगह की हठ, स्वरूप की बेसुधी बिल्कुल न बने। जिसको स्वरूप की सुध है उसकी हठ अपने आपके स्वरूप के लिए होती है। यह निःश्रेयस कठिनता से करने योग्य है, क्योंकि इसका पार नहीं है फिर भी जो भव्य आत्मा अपने आपके स्वरूप की अनुभूति के लिए ही कमर कसे हुए रहते हैं, पौरुष शील रहते हैं वे निर्वाण को अवश्य प्राप्त करते हैं। जब हमारे पौरुष से जिसको भी पौरुष समझ रखा है, जो सोचते हैं उन कामों को कर डालते हैं। जो पराधीन हैं, जिन पर हमारा अधिकार नहीं है वे कार्य हमारे विचार और परिश्रम से कैसे हो जाते हैं। यह विषय एक अलग है, पर हां ऐसा योग हो जाता कि इतना परिश्रम किया वहाँ कार्य बन गया फिर जो स्वाधीन कार्य है उसके ही द्वारा उससे अलग मेरे में कार्य होता है। इतना सरल स्वाधीन कार्य हम पौरुष से न कर सकें यह कैसे होगा? अवश्य ही कर सकते हैं।

अन्तस्तत्त्व के परिचय के बल से मोहरागद्वेषों का प्रक्षय—लोग सोचते हैं कि मोह और राग छोड़ना बड़ा कठिन है किन्तु जिसने मोह राग रहित ज्ञानस्वभाव मात्र निज स्वरूप को पहिचाना है उसका मोह राग छूट जाता है। परिस्थितिवश कभी कोई राग करना पड़ रहा है तो वह कब तक करना पड़ रहा होगा, वह भी खत्म होगा ही। जैसे किसी वृक्ष को जड़ से उखाड़कर गिरा दिया जाय तो उखाड़ दिया जाने पर भी उसके वे पत्ते हरे तो रहते हैं पर कब तक हरे रहेंगे? एक दिन रह लें, दूसरे दिन रह लें, आखिर सूख ही जाते हैं, ऐसे ही जिस ब्रती श्रावक का मोह गल गया है, आत्मानुभव जग गया है, सहज स्वरूप में रमकर आनन्द पाया है उसको संहनन आदिक की निर्बलता के कारण संग में रहना पड़ रहा है। गृहस्थी में रहना पड़ रहा है और वहाँ कुछ राग होता है तो वह राग कब तक टिकेगा? टिक नहीं सकता।

धर्मधारी के कषायों के लगाव की असंभवता—धर्म पालन के जितने भी अंग हैं उन सबका मूल है स्वभाव

प्रतीतिरूप धर्मपालन । धर्मपालन यह हैकि अपने सहज स्वरूप में ‘यह मैं हूँ’ इस प्रकार का अनुभव बने । मैं अन्य कुछ नहीं हूँ । परमार्थ तत्त्व को देखिए—घर में रहने वाले माता-पिता, पुत्र-स्त्री वाला अथवा किसी पार्टी वाला मैं नहीं हूँ । व्यापारी नहीं, सर्विस वाला नहीं । बालक, वृद्ध, जवान आदिक किसी भी रूप वाला मैं नहीं, मैं गृहस्थ नहीं, मैं त्यागी नहीं, मैं मुनि नहीं, मैं इन किसी भी रूप नहीं हूँ । ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, यह जिसकी दृष्टि रहती है वह पुरुष किस पर क्रोध करेगा? क्रोध करने का उसका अब प्रयोजन क्या रहा? जगत के कुछ भी समागम उसके प्रयोजन से अलग हो गए, वह किस बात पर मान करेगा? किसको मान बताएगा? किसमें बड़ा बनना है? यह सब मायारूप चक्र है? यह मैं आत्मा अपने आप में अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ । उसके स्पर्श बिना, अनुभव बिना यह उपयोग बाहर में कहां-कहां भटक कर दुःखी होता? और दुःखी हो इतना ही नहीं, न जाने कैसे-कैसे देहों की विडम्बना पायी, पेड़ बना, लट केंचुआ बना, चींटी, चींटा, बिच्छू आदि बना ढंग बेढंगे पशुपक्षी बने तो यह भगवान आत्मा के शोभा की बात है क्या? यह सब कलंक है । यह देह कलंक है । देह से पृथक् अंतस्तत्त्व में जिस भव्यात्मा के आत्मबुद्धि हुई है उसके लिए नाम का क्या प्रश्न है? भले ही लोकव्यवहार के लिए नाम रखा है, व्यवहार चल रहा है, पर उसको कहीं भी मान नाम की बात नहीं है । अपने सहज ज्ञानस्वरूप की अनुभूति पाने वाले भव्य जीव मायाचार कैसे कर पाएँगे? जैसे मोहियों को यह संदेह होता कि कोई भी मनुष्य मोह रागद्वेष कैसे छोड़ सकता है? ऐसे ही यह सन्देह बनाइए कि ज्ञानी पुरुष सहज अंतस्तत्त्व का रुचिया पुरुष कैसे क्रोध, मान, माया, लोभ कर सकता है? मायाचार एक बहुत बड़ा कलंक है । जब तक माया की प्रकृति रहती है तब तक धर्मलाभ नहीं मिल सकता । चार कषायों में माया कषाय को शल्य की संज्ञा दी है । क्रोध, मान और लोभ को शल्य नहीं कहा पर माया को शल्य में बताया । ज्ञानी पुरुष को माया करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं । किसमें मायाचार करना? जगत का कौनसा काम पड़ा है जिस लौकिक के होने से, करने से आत्मा का अभ्युदय हो जाए । जब कुछ प्रयोजन न रहा तो यह मायाचार क्या करेगा? ज्ञानी पुरुष को अन्तः तृष्णा भी नहीं रहती । जिसने देह से निराला अपने को अनुभवा है उसको फिर किस विषय की तृष्णा है? वह इन्द्रिय विषय को चाहता ही नहीं है । भले ही जीवन है तो आहार करना पड़ता है । पर ये तृष्णा के रूप नहीं है वह धर्म के रूप हैं । एक पुरुष आहार करके पाप बांधता है और एक पुरुष आहार करके पुण्य बांधता है । जो संयम की रक्षा के लिए जीवन को आवश्यक जानकर एक जीवन चलाने के लिए ही आहार करता है वह पाप नहीं बांधता है, क्योंकि लक्ष्य उसका उत्तम है । और जो रसास्वाद के लिए आहार करे वह पाप बांधता है । ज्ञानी विवेकी जीव को लोभ कषाय का कोई प्रयोजन नहीं है, सो यह आत्मा में मग्न होकर सर्व दुःखों से अछूता होकर निःश्रेयस को प्राप्त करता है।

श्लोक 131

जन्मजरामयमरणैः शौकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।

निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्टते नित्यं ॥१३१॥

अपने जीवन में व्रत पालन करने वाला और अन्त समय में सल्लेखना धारण करने वाला पुरुष अनेक

अभ्युदयों को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करता है पूर्व छन्द में यह बात कही गई थी, उसी के सम्बंध में यहाँ यह बतला रहे हैं कि वह निःश्रेयस मायने निर्वाण किस प्रकार का है। उसको विशेष लक्षण पूर्वक बतला रहे हैं। निःश्रेयस का सीधा अर्थ है इष्ट कल्याण मय, जिसमें अपना पूर्ण कल्याण बसा हो उसे कहते हैं निश्रेयस। तो पूर्ण कल्याण निर्वाण में ही है, इस कारण निःश्रेयस का अर्थ निर्वाण कहा जाता। वह निर्वाण निःश्रेयस है, इष्ट है, पूर्णकल्याणमय है। इस निर्वाण में अब जन्म लेना न रहा। सबसे कठिन विपत्ति है जन्म धारण करना, जिस विपत्ति की ओर प्रायः जीवों की दृष्टि नहीं हैकि यही तो दुःख है। जन्म हुआ तो जीवन रहा, जन्म का दुःख जीवन का दुःख। फिर मरण होगा वह दुःख, फिर इतने से छुट्टी नहीं मिलती, फिर जन्म होगा, वही का वही क्लेश, इस कारण जन्म ही सर्व क्लेश है। अब सिद्ध प्रभु जन्म से रहित हैं, जन्म होता ही नहीं है, अरहंत भगवान भी जन्म से रहित हैं। भले ही अरहंत प्रभु का पंडितपंडितमरण होता है जिसे निर्वाण कहते हैं, पर उसके बाद जन्म नहीं होता। सिद्ध जन्म से रहित हैं और आगे जन्म होने का कोई सवाल हो नहीं है। जन्म नहीं हुआ करता। जीव तो स्वयं स्वतंत्र परिपूर्ण सत् है, बस नए शरीर में जीव का पहुंचना म् जन्म कहा करते हैं। सो यह बड़ी विडम्बना है जीव की कि ऐसा परमात्मस्वरूप होकर भी जन्म लेकर यह नाना विडम्बनाओं रूप बन जाता है। संसार के कैसे-कैसे जीव, उनकी कैसी-कैसी अवस्थाएँ ये सब विडम्बनाएँ इस जन्म के कारण हैं। सो जन्म से रहित स्थिति ही निर्वाण है, अन्यथा निर्वाण का कुछ अर्थ नहीं। कुछ लोग बैकुण्ठ की कल्पना करते हैं कि यह जीव तपश्चरण करके कर्मों से छूट जाता है, बहुत समय तक छूटा रहता है, उसके बाद संसार में ही आना पड़ता है। फिर से कर्म लग जाते हैं, जन्म हो जाता है। पर ऐसे जन्म की जहाँ शंका है उसे निर्वाण कैसे कहा जा सकता? अथवा नाम धर दें निर्वाण का लेकिन निःश्रेयस तो न रहा, परम कल्याण रूप न रहा। यह तो और मुसीबत रही, किसी से कहा जाए कि हम तुम को करोड़पति बना देंगे १०-५ वर्ष बाद में जो तुम्हारा निज का घर है, जो कुछ तुम्हारे पास दंड कमण्डल है वह सब भी छीन लिया जाएगा। तो ऐसा धनी होने की कोई इच्छा करता है क्योंकि हां-हां बना दो, १०-५ वर्ष धनिक बनकर देख ही लेंगे, पीछे भिखारी बन लेंगे ऐसा कोई नहीं चाहता। तो ऐसा बैकुण्ठ कि जहाँ अनगिनते वर्षों तक रहे, पर उसे जन्म लेना पड़े तो वह निःश्रेयस नहीं कहला सकता। निःश्रेयस जन्म से रहित हुआ करता है।

निःश्रेयस की जरापरिमुक्तता—निःश्रेयस में जरा का क्या काम। जरा का अर्थ है बुढ़ापा, और धातु से अर्थ निकलता है जीर्ण शीर्ण हालत बनना। जहाँ शरीर ही नहीं है वहाँ जरा का क्या प्रश्न? जरा तो अरहंत अवस्था में भी नहीं हुई। कोई मुनिराज बूढ़े हों और उनको केवलज्ञान हो जाए तो केवलज्ञान होने पर फिर वे बूढ़े न रहेंगे, उनकी हड्डी पसली निकली हुई न रहेंगी। उस पवित्रता का यह प्रताप है कि वह शरीर मनोज्ञ दर्शनीय हो जाएगा अन्यथा अरहंत भगवान मिलें और उनके हड्डी पसली निकल हों तो यह कुछ अटपटासा लगता है कि ऐसे प्रभु में भक्ति विशेष कहां से बनेगी? जैसे मुनियों के प्रति भक्ति है वही सीमा में रहेगी। ऐसा होता ही नहीं है, १२वें गुण स्थान में जो मुनिराज हैं वहाँ शुरु सेही शरीर की निर्दोषता होने लगती है, निगोद जीवों का जन्म रुकने लगता है, कम होने लगता है, और १२वें गुणस्थान के अन्त में इस शरीर में कोई निगोद जीव नहीं रहते और उसके साथ-साथ धातु उपधातु में मलिनता न रहे यह भी साथ चल रहा है। तो अरहंत होने

के प्रारम्भ में उनका शरीर स्फटिक मणि की तरह कान्तिमान और छायारहित हो जाता है । सिद्ध भगवान जरा से रहित हैं ।

निःश्रेयस की आमयपरिमुक्तता—प्रभु के रोग नहीं होता । रोग तो अरहंत प्रभु के भी नहीं है जहां कि शरीर है । फिर सिद्ध भगवान के तो शरीर ही नहीं है, रोग कहां से आए? रोगादिक होने का कारण कर्म का उदय है । और कर्म का उदय जब आता है जब बंधे, और ऐसा कर्म तब बंधा जब इसके भाव खराब हुए । तो जो आत्मा अपने भाव खराब करता है उसके ही रोग होता है । भले ही आज पुण्य के उदय में भाव भी खोटे किए जा रहे तो भी रोगादिक नहीं सता रहे, अन्य अभ्युदय भी चल रहे पर वे चलेंगे उतने ही दिन तक जितने दिन तक पूर्वबद्ध कर्म साथ दे रहे । अन्त में हालत वही होगी जो आज भाव खोटे किए जा रहे हैं । हमारा सब कुछ हमारे भावों पर निर्भर है, कोई बात कुछ समय बाद बनेगी, पर जो भी मेरी सृष्टि होती है वह सब मेरे भावों के अनुसार होता है इसलिए कह लीजिए कि यह आत्मा ईश्वर है, अपनी सृष्टि बनाने में यह स्वतंत्र है । जीवन में भाव गंदे न होना चाहिए । चाहे कुछ धन वैभव कम हो जाए अन्य कुछ भी स्थिति हो जाए, मगर भावों में निर्मलता ही रहना चाहिए । भावों में बिगड़ न आना चाहिए । तो जहां वीतराग निर्विकल्प समाधि का परिणाम रहा मुनिजनों का, इसही समाधिभाव में अपने सारे क्षण लगाएँ जिसके प्रताप से अरहंत अवस्था पायी और अन्त में सिद्ध अवस्था पायी तो यह शुद्धोपयोग परिणाम का फल है । सिद्ध प्रभु आमय से रहित हैं।

निःश्रेयस की मरणपरिमुक्तता—सिद्ध भगवान मरण से रहित हैं । जो अवस्था पायी है सिद्ध प्रभु ने वह धर्मादिक द्रव्यों की तरह शुद्ध अवस्था है । जैसे आकाश अपने आप में विशुद्ध है उसमें कोई लेप नहीं, विकार नहीं, ऐसे ही सिद्ध प्रभु में कोई लेप नहीं विकार नहीं । केवल एक विज्ञानघन यह आत्मा है जिसकी निरन्तर विशुद्ध ज्ञान परिणतियां चल रही हैं । यहां तो किसी भी वस्तु को जानने चलते हैं तो रागद्वेष इष्ट अनिष्ट भाव उसके साथ जुट जाते हैं । कैसा ही उपवास भी किया हो, वहाँ जरा भी इच्छा नहीं है खाने की और न खाएगा, दृढ़ विचार है, पर जहाँ खुशबू आ रही है, मिठाइयां बन रही हैं, उस बीच से निकल जाए तो उसका रंच भी भाव नहीं है कि मैं खाऊँ, न शुद्ध खाने का है, अशुद्ध की बात तो दूर रही पर वहाँ से निकलने पर मन में कुछ न कुछ बात तो आती ही कि अच्छी मिठाई बन रही, बड़ा सुगंध है यों कुछ न कुछ कल्पना जग ही जाती है । और इसीलिए श्रावकों को बताया है कि आश्रयभूत कारणों से वे बिल्कुल अलग रहें । कोई सोचे कि मेरे तो अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत है और अभ्यास तथा सामर्थ्य भी हमारा अच्छा हो गया, अब हम को क्या? कहीं भी विचरे? किसी के भी बीच में रहें, किसी से भी अधिक बोलचाल बनाएँ, मेरे को क्या दोष? तो चरणानुयोग ऐसी आज्ञा नहीं देता । वह आश्रयभूत कारणों का परिहार कर दूर रहने की आज्ञा देता है और उन कारणों से दूर रहकर अपने आप में फिर ज्ञानस्वरूप की साधना बनाइए । तो ऐसे ही ऊचे तपश्चरण के प्रभाव से अरहंत होकर सिद्ध अवस्था पायी है तो वह बिल्कुल आकाश की तरह विशुद्ध अपने ज्ञान की वर्तना में ही बना रहता है ।

सिद्ध भगवंतों के विकृति के लेश की भी अत्यन्त असंभवता—भैया! यहां तो इस बात पर आश्र्य होता कि कैसे ज्ञान शुद्ध बन जाता और निर्विकार ज्ञातादृष्टा रह जाता? वहाँ इस बात पर आश्र्य होगा कि सिद्ध प्रभु के

ज्ञान में रंच भी तरंग नहीं आती । यहाँ तो इतनी तरंगों का, विकल्पों का ढेर लगा रखा है वहाँ इसकी रेखा तक भी नहीं है । आश्र्वय की क्या बात? जब कोई एक द्रव्य अकेला ही रह गया तो अब उस एकाकी द्रव्य में विकल्प की रंच भी गुंजाइश नहीं । हाँ केवल परमाणु द्रव्य है सो वह अकेला रह जाएगा तो भी उसका अन्य परमाणुओं से बंध हो सकता, स्कंध बन सकता, आप यह तर्कणा करेंगे कि ऐसा क्यों हुआ । जब अकेला ही परमाणु रह गया तो जैसे जीव जब अकेला ही रह जाता है, इसके साथ कर्म शरीर का सम्बंध नहीं है तो वह तो कभी अशुद्ध नहीं होता । यह परमाणु क्यों अशुद्ध हो जाता? तो उसका कारण यह है कि परमाणु में अशुद्धता होने का कारण है परमाणु के ही स्निग्ध रुक्ष गुण का परिणमन । दूसरे पदार्थ की उपाधि हो सम्बंध हो तब वह विकार करेगा ऐसा परमाणु में नहीं है, किन्तु परमाणु में अपने आपकी ओर से ही चिकनापन और रुखेपन की डिग्रियां खूब बढ़ी हुई रहती हैं । तो जब बंध के योग्य स्निग्ध रुक्ष गुण की डिग्रियां हो जाएँ तो वह बंध जाता है, किन्तु जीव में रागद्वेष आने की खुद में कला नहीं है कि अपने आपके ही परिणमन से ये रागद्वेष कर रहे उपाधि की क्या आवश्यकता है? उपाधि के होने पर ही उस प्रकार का कर्मविपाक होने पर ही रागद्वेष जगता है और परमाणु में ऐसा नहीं है कि दूसरे परमाणु को कोई सम्पर्क, लगाव बने कुछ बने तो उसमें स्निग्ध रुक्ष गुण की डिग्रियों के परिणमन हों । परमाणु में स्निग्ध और रुक्ष गुण स्वयं है, शक्ति है और उसका निरन्तर परिणमन है । कभी भी ऐसा न होगा कि किसी परमाणु में स्निग्ध अथवा रुक्ष गुण रहा ही नहीं, और रहता है तो अर्थ पर्याय चलने के कारण उसकी डिग्रियां भी चलती हैं, बंध हो जाता है । पर रागद्वेष नाम की बात जीव के स्वभाव में है ही नहीं, औपाधिक थी । उपाधि के दूर होते ही रागद्वेष दूर होते हैं, अब उसको यह कभी जब रागद्वेष न जग सकेंगे तो उपाधि मिलने का भी अवसर न आएगा । जब उपाधि नहीं है तो रागद्वेष नहीं है ऐसे शुद्ध आत्मा हैं वे सिद्ध प्रभु । उसमें मरण की सम्भावना ही क्या है? सिद्ध प्रभु मरण से परिमुक्त है।

सिद्ध भगवंत की शोक और दुःख से परिमुक्तता—सिद्ध भगवन्त के शोक का कुछ काम नहीं, वे सब शोक से मुक्त हो गए और दुःखों से मुक्त हो गए । शोक और दुःख ये दोनों ही अनिष्ट हैं फिर भी इनमें अन्तर है किसी के दुःख हो और शोक न हो ऐसी ज्ञान की स्थिति बन सकती है और किसी के शोक हो और दुःख न हो यह भी स्थिति बन सकती है स्थूल रूप से । बारीकी से तो जहाँ दुःख है कोई शोक थोड़ा बहुत होगा । जिसके शोक हैं उसके कोई दुःख होगा । मगर घटना लो, एक तत्त्वज्ञानी मुनिराज जिनके शारीरिक दुःख आया है, कुष्ट हो गया है, शस्त्रवेदना आ गई, कितनी ही वेदनाएँ आ गयी, दुःख हो गया, मगर उनको शोक रंच नहीं है और एक कोई धनी आदमी जिसके करोड़ों का वैभव है, शरीर भी स्वस्थ है, अच्छा उसे पथ्य मिलता है, डॉक्टर भी है, उसे दुःख भी नहीं है, मगर भीतर शोक कितना बसाए है । कहीं राजा नाराज न हो जाए, कोई ऐसा कानून न बना दे, यह धन मेरा यों ही न पड़ा रह जाए यों कितनी ही तरह की शंकाओं में वह पड़ा हुआ है । दुःख तो उसे कुछ नहीं है । तो शोक और दुःख में थोड़ा अन्तर है । इसलिए चिन्ता और विषाद ये अलग-अलग दोष बताए गए हैं । सिद्ध प्रभु में न किसी प्रकार का शोक है और न कोई दुःख है । वह तो एकाकी अपने चैतन्य रस से परिपूर्ण हैं, वहाँ विकल्प ही कुछ नहीं उठते, तो ऐसे शोक और दुःख से परिमुक्त जो निर्वाण है वही वास्तव में निःश्रेयस है । निर्वाण में भय का भी काम नहीं है । जो भय से परिमुक्त दशा है, वही

वास्तव में निःश्रेयस कहा जाता है। भला अमूर्त आत्मा कर्म और शरीर से अत्यन्त पृथक् और अपने में विशुद्ध ज्ञान की परिणतियों में गाते रहने वाला है अमूर्त आत्मा में भय की गुंजाइश किस ओर से है? जैसे कितना ही बड़ा तेज पटाका फोड़े, बम फोड़े तो क्या आकाश में भय आ जाएगा? नहीं। आकाश में भय नहीं आता, वह अविचल रहता है, ऐसे ही वह अमूर्त आत्मा निलेप आत्मा किसी भी परिस्थिति में याने बाहरी पदार्थ कुछ भी परिणमते रहें लेकिन यहाँ भय का काम नहीं है। तो वे सिद्ध प्रभु भय से रहित हैं। भय नाम की एक संज्ञा है, उस भय संज्ञा की दृष्टि से भय की संज्ञा ८वें गुण स्थान तक कही गई है। ८वें गुण स्थान के बाद भय किसी भी दृष्टि से सम्भव नहीं है। जब यहाँ ९वें गुणस्थान वाले और ऊपर के गुणस्थान वाले मुनिराज जो शरीर सहित हैं धातु उपधातु वाले हैं, जिनके शरीर में रोग भी सम्भव है उन तक के भी भय का रंच नाम नहीं है। फिर क्षीण मोह हुए बाद भयं की क्या कल्पनाएँ। अरहंत के क्या भय, सिद्ध प्रभु के क्या भय? यह अमूर्त शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने वाला सिद्ध प्रभु समस्त भयों से परिमुक्त है। निर्वाण में ऐसी निर्भयता, निर्विकारता निष्कम्पता अविचलता रहती है। देखो यह है अपना असली धाम जहाँ पहुंचने पर इस जीव को शान्ति रहेगी, वह उत्कृष्ट अवस्था, यही है सिद्ध पद। हम अरहंत सिद्ध नाम तो जपें और अरहंत सिद्ध होने की भावना चित्त में न लाएँ तो उस नाम जपने का अर्थ कितना सा रहा? ये अरहंत सिद्ध ये ही परिपूर्ण आनन्दमय है,। यह ही उत्कृष्ट दशा है, ऐसा ही हम को होना चाहिए। सिद्ध हुए बाद ही निःश्रेयस कहा जा सकता है कि परमकल्याण इससे प्राप्त हुआ। यह श्रमण शुद्ध आत्मीय आनन्द से भरपूर है। जहाँ केवल आत्म उपाधि का और विभाव का लेप नहीं, ऐसा निरञ्जन वह केवल अमूर्त आत्मा निरन्तर शुद्ध ज्ञानरूप परिणम रहा है। जहाँ विकल्प तरंग रंग कुछ भी सम्भव नहीं है उस स्थिति में ही अनन्त आनन्द है, और वह आनन्द क्या है? क्या केवल कहने मात्र के लिए है कि कोई दुःख न रहे यही आनन्द है? क्या दुःख के अभाव रूप ही आनन्द कहलाता है? वहाँ के आनन्द को कौन समझ रहा है यहाँ? सो बात यह है कि हम आप लोगों को कैसे समझाया जाय कि प्रभु के अनन्त आनन्द हैं? वह समझाया जा सकता है निराकुल शब्द कहकर। क्योंकि आकुलताओं और दुःखों का हम आपको खूब परिचय बना हुआ है, और जानते हैं कि ये बड़ी कठिन बेदनाएँ हैं। और जब यह समझाया कि ये आकुलताएँ वहाँ रंच भी नहीं रहती हैं तो समझ में आता है कि हाँ बहुत अच्छी स्थिति में है अरहंत और सिद्ध, मगर इतना नहीं है कि उनके कष्ट नहीं है, आकुलता नहीं हैं सो ही बात हो, वे तो हैं ही पूर्ण, मगर परम आह्वाद रूप परिणमन निरन्तर बना हुआ है। अब वह परम आह्वाद कैसा है, वह आह्वाद पाए बिना स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आ सकता। अनुमान किया जाता है प्रमाण से समझा जाता है मगर परम आह्वाद सिद्ध भगवन्त का, प्रभु का क्या है, इसके बताने के लिए कोष में कोई शब्द नहीं है। सही ढंग से तो हम आप एक रोज के खाने में आने वाली मिठाइयों का स्वाद भी दूसरे को नहीं बता सकते, पर वहाँ इलाज है दूसरे को समझाने का कि रसगुल्ले का कैसा स्वाद होता है? तो बहुत देर तक दिमाग लड़ाने से क्या फायदा? एक रसगुल्ला उसके मुख में खिला दीजिए, बस वह कह उठेगा कि हा हम समझ गए कि ऐसा मीठा होता है। तो सिद्ध प्रभु के जो आनन्द हैं उस आनन्द को जो अनुभव करता वह बोल नहीं सकता जो बोलता है उसको आनन्द का पता नहीं है। तो प्रभु के आनन्द की महिमा कौन कह सकता है? हम आपका जीवन तब ही सफल

है जब सांसारिक विषयों से अपना उपयोग हटाएँ और इसकी धुन बनायें कि मुझे तो सब लेपों से रहित होकर अरहंत सिद्ध की तरह निर्दोष केवल अकेला रहना है दूसरा और कोई प्रोग्राम नहीं है। यही भावना इस जीवन में बनाइए और बढ़ाइये वह इस जीवन की एक अलौकिक देन होगी, अन्यथा जैसे अनेक जन्म पाए इसी तरह यह जन्म भी बेकार चला जाएगा।

श्लोक 132

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।

निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥१३२॥

आत्मविकास का मूल सहज परमात्मतत्त्व की उपासना—अपने जीवन में सम्यक् श्रद्धा सहित, तत्त्वज्ञान की आराधना सहित जिसने सदाचार का निर्दोष पालन किया है वह पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर समाधि बल से निःश्रेयस को प्राप्त करता है। उस निःश्रेयस के पात्र के सम्बन्ध में यहाँ प्रतिपादन किया है। यह भव्य आत्मा जिसने एकत्वविभक्त कारण समयसार का अभेद अनुभव किया वह पुरुष कर्मों का विघ्नसं करके निर्वाण को प्राप्त होता है। जिस परमात्मा की आराधना से मुक्ति प्राप्त होती है वह परमात्मा कहीं बाहर नहीं है। जो परमात्मा हुए हैं, जो बाहर अवस्थित हैं उन परमात्मा की आराधना से दो लाभ मिलते हैं। एक तो उस शुद्धोपयोग की आराधना जिसके बाद शुद्धोपयोग बनता है। दूसरा लाभ यह है जो कि उस प्रथम लाभ से ही सम्बन्धित है कि प्रभु के जब उन शुद्ध गुणों का स्मरण होता है तो वह परिणमन इतना विशुद्ध है कि स्वभाव के पूर्ण अनुकूल है वे और इस अनुकूलता के कारण प्रभु के शुद्ध गुणों का स्मरण करके स्वभाव में आने में सुगमता रहती है। आत्मा का अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभाव कारण समयसार है। यही स्वभाव सहज परमात्मतत्त्व है इसकी अभेद आराधना जिसके बनी है वह ही कर्मों का विघ्नसं कर निर्वाण को प्राप्त होता है, तो ऐसा निःश्रेयस बन कर वे किस तरह रह रहे हैं निर्वाण में उनको इस रहने की विधि का विशेषण देकर वर्णन किया गया है।

अनन्तज्ञानयुक्त परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—यह पवित्र आत्मा अनन्त ज्ञान से युक्त है, जिस शान का अन्त न आए उसे भी अनन्त कहते हैं, जो ज्ञान अनन्त श्रेयो से ज्ञात है उसे भी अनन्त कहते हैं। ऐसी अनन्त ज्ञान से युक्त होते हुए निःश्रेयस में बसते हैं। ज्ञान का स्वभाव जानना है। सामने वाले पदार्थ को जाने यह ज्ञान का स्वभाव नहीं है या इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ को जाने यह ज्ञान का स्वभाव नहीं है या वर्तमान में अवस्थित पदार्थों को जाने, यह ज्ञान का स्वभाव नहीं है। किन्तु जगत में जो भी सत् है वह सब ज्ञान में आ जाय, इस प्रकार के ज्ञान की वृत्ति होती है। जो लोग अभिमुखता की दृष्टि रखकर सोचते हों कि जो सामने हो वही तो ज्ञान में आएगा सो यह सामने आख्या ज्ञान करने की हम आपको जो विवशता बनी है वह शरीर दीवाल के होने के कारण बनी है। अगर यह शरीर रूप दीवाल न हो: तो खिड़कियों से जानने की फिर क्या जरूरत है? ये इन्द्रियां तो खिड़कियां हैं। जहाँ दीवाल नहीं है आवरण नहीं है, शरीर नहीं है उस अमूर्त आत्मा को तो चारों ओर और खुद में भीतर में सब कुछ सामना ही सामना है। जिसके मुख है उसका सामना मुख की

दिशा से है, और जिसके मुख नहीं है उसका सामना सर्व दिशाओं में है। जो सामना बोलें उनके लिए कहा जा रहा है। ज्ञान है, जानने का स्वभाव है, अपने स्वभाव से वह जानता है, और ज्ञेय है, उनका स्वभाव है प्रमेयपना सो अपने ही स्वरसतः वह प्रमेय हो जाता है। ऐसा ज्ञेय ज्ञायक सम्बंध होने के कारण प्रभु अनन्त तानी हैं। ऐसा अनन्त ज्ञानरूप वर्तते हुए निःश्रेयस में वे शाश्वत रहा करते हैं।

अनन्त दर्शन सम्पन्न परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—ये सिद्ध प्रभु अनन्त दर्शनवान हैं, अनन्त दर्शन की भूमि का अनन्त ज्ञान ने बना दी अर्थात् अनन्त ज्ञान के द्वारा जो कुछ ज्ञेय हो रहा है ऐसे ज्ञेय को जाननहार आत्मा का प्रतिभास होना अनन्तदर्शन है। दर्शन में किसी पदार्थ का प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि पदार्थ का प्रतिभास होना तो ज्ञान है पर पदार्थ जहाँ प्रतिभासित हो रहे हैं ऐसे प्रतिभास करने वाले आत्मा को प्रतिभास कर लेना दर्शन है। जैसे कोई पुरुष केवल दर्पण को ही देखता है और बात सारी बता देता है कि पीछे कहाँ क्या हो रहा है। जैसे मानों कुछ बालक लोग उछल कूद रहे हैं तो दर्पण में देखकर उस सबका प्रतिभास कर लेते हैं। उसने उन पदार्थों को नहीं जाना, वह तो केवल दर्पण को ही प्रतिभास रहा, मगर उन सबका फोटो रूप परिणामे हुए दर्पण को प्रतिभा से तो उसमें सबका प्रतिभास आ गया, ऐसे ही अनन्त ज्ञेय पदार्थों को जानने वाले इस परमात्मा को जिसने प्रतिभासा उसी का तो वह अनन्त दर्शन कहलाता है। ऐसे अनन्तदर्शन से युक्त भगवन्त निरन्तर अब निःश्रेयस में ही बसा करते हैं। देखिए—प्रभुमूर्ति के दर्शन करके एक बार तो चित्त में यह आवाज उठ जाना चाहिए कि आनन्द है तो इस दशा में है इसके सिवाय अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है, ऐसा अगर चित्त में आयगा तो आपको बाह्य समागमों से सहज विरक्ति होगी और आनन्दधाम निज सहज परमात्मतत्त्व के ध्यान की धुन बनेगी।

अनन्तशक्ति सम्पन्न परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—ये पवित्र आत्मा अनन्त शक्तियों से युक्त होते हुए निःश्रेयस में बसते हैं, प्रभु में अनन्त शक्ति क्या है? क्या वे इस जगत की सृष्टि करते हैं? क्या वे जिसे चाहे उसको उठाकर फेंक दिया करते हैं? क्या अनन्त शक्ति है जिससे बताया जाता कि उनकी शक्ति का अन्त ही नहीं आता? उनकी अनन्त शक्ति क्या है सो सुनो—उनका ज्ञान अनन्त ज्ञान है तो अनन्त ज्ञान को बनाए रहने का जो सामर्थ्य है वह काम क्या छोटे मोटे सामर्थ्य द्वारा बन जाएगा? जहाँ अनन्त शक्ति प्रकट है वहाँ ही तो अनन्त ज्ञान का विलास चलेगा। अनन्त गुण डटे रहे, उन गुणों में कर्मी न आए, उनमें विकार न बने, वे सही ढंग से बने रहें सदैव, ऐसा होने के लिए अनन्त सामर्थ्य चाहिए वही अनन्त सामर्थ्य है। यद्यपि सब कुछ प्रभु में अखण्ड रूप से है। वहाँ भेद नहीं पड़े हैं पर्याय एक है पर उस पर्याय का भेद करें समझने के लिए तो गुण का सहारा लेकर ही किया जा सकेगा। और उस भेद दृष्टि से यह सब ज्ञात हो रहा है। प्रभु में अनन्त शक्ति है, भला जब यहाँ ही शरीर के मैल को डॉटने के लिए सामर्थ्य की जरूरत है। तो जब एक नाक वगैरह के डांटने के लिए शक्ति की आवश्यकता समझी जा रही है तब फिर क्या विकास को डाटे रहने वाली शक्ति की आवश्यकता नहीं होती? अनन्त विकास निरन्तर चल रहा है, यह अब अनन्त बल का महात्म्य है। प्रभु के अनन्त बल का यह अर्थ नहीं है कि वह परपदार्थों में कुछ भी फेर फार बदल परिणति जो चाहे करता रहे। प्रभु वीतराग हैं वे किसी का न भला करने आते, न बुरा करने आते। वह शुद्ध द्रव्य अपने आपके स्वरूप में

निरन्तर शुद्धता से परिणमते रहते हैं, तो अनन्त शक्तियों से युक्त आत्मा सुख पूर्वक, शान्तिपूर्वक निर्वाण में बसे रहा करते हैं।

परमार्थ-स्वास्थ्य सम्पन्न परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—यह आत्मा स्वास्थ्य से युक्त है। स्वास्थ्य मायने स्वस्मिन तिष्ठति इति स्वस्थः स्वस्थस्यभावः स्वास्थ्यं। अपने आप में ठहरने का नाम है स्वस्थ। स्वस्थ के भाव का नाम है स्वास्थ्य, अपने आपके स्वरूप में स्थित बने रहने को स्वास्थ्य कहते हैं। शरीर कैसा ही निरोग हो, बलवान हो, उसे कोई माने कि मैं स्वस्थ हूँ तो उसका बहुत बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य है। उसमें ब्रह्म आया, मिथ्यात्व आया, मोह आया, कितनी गड़बड़ी आयी आत्मा में, तो इतने विकार में लदे हुए पुरुष को स्वस्थ कहेंगे क्या? वहतो अधिक बिगड़ा है। उसके आध्यात्मिक रोग इतना बड़ा प्रबल लगा हुआ है जो शरीर को निरखकर कल्पना करता है कि मैं तो बड़ा स्वस्थ हूँ। जब लोग आपस में मिलते हैं तो एक दूसरे से पूछते हैं कि भाई आपका स्वास्थ्य कैसा है? तो लोग तुरन्त उसका उत्तर यह देते कि मेरा स्वास्थ्य बहुत ठीक है। पर स्वास्थ्य का जो सही अर्थ है उस दृष्टि से निहारें तो ये दोनों पागलों की जैसी बातें चल रही हैं।

रुढ़ घटनाओं का अतिपूर्व अध्यात्मवर्तन—आध्यात्मिक आनन्द की बातों की मोही जीव ने अपने शरीर पर लगाकर घटित कर दिया। कोई समयथा ऐसा कि लक्ष्मी का अर्थ ज्ञान रहता था, ज्ञान सिवाय और किसी का नाम लक्ष्मी होता ही नहीं, क्योंकि लक्ष्य, लक्षण, लक्ष्मी ये सब एक ही प्रकार के शब्द हैं। तो मेरा लक्षण क्या याने मेरी लक्ष्मी क्या? यह ज्ञान, आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप, उसकी दृष्टि और इस ज्ञान लक्षण का ही महत्त्व है यह कि आनन्ददायक है और इसी का ही प्रतिभास वैभववान कहलाता है और इसकी ही सेवा में आनन्द जगता है। इतनी बातें लोग जानते रहे पहले पर जैसे-जैसे समय गुजरा लोगों के विचार बदले, विषय कथाय की ओर बुद्धि आने लगी तो इतना ख्याल था कि लक्ष्मी बहुत आनन्द देने वाली होती है, मनोरथ सिद्ध करने वाली होती है, यह बात सुनते आये थे ना। ज्ञान को लक्ष्मी जानकर इतना सुनना तो रह गया और ज्ञान यह सबसे हट गया। चूँकि विषयों में प्रीति है तो उसका साधन है यह बाह्य पदार्थ, धन दौलत, तो अब स्व आनन्द देने वाली चीज यह धन दौलत ही लक्ष्मी बन गई ऐसा कल्पना में आया। ऐसी कितनी ही घटनाएं मानों पहले चित्रों के रूप में एक अध्यात्मतत्त्व को समझाने के लिए चलती थीं। उनकी दृष्टि हटी और लौकिक रूप में ले ली गई। गणेश की मूर्ति पहले बनायी जाती थी स्याद्वाद अनेकान्त का दर्शन करने के लिए। जिस स्याद्वाद की मूर्ति है गणेश। चूहे पर विराजे और धड़ में जो हाथी का मुख फिट हो गया यह है अभेदनय का निश्चयनय का प्रतीक याने अभेद में ऐसा बढ़ना चाहिए, अभेददृष्टि से वस्तु को ऐसा परखना चाहिए कि जहाँ भेद कुछ न रहे, एक ही दृष्टि में रहे, जैसे कि धड़ से हाथी का मस्तक एकमेक हो गया, फिट हो गया, कहीं धार तक भी नहीं दिखती। और भेदनय से वस्तु के गुण, पर्याय, अविभाग प्रतिच्छेद, रस इन सबका ऐसा विश्लेषण करना चाहिए, ऐसा न्यारा-न्यारा ज्ञान प्रकाश में लाना चाहिए जैसे कि चूहे की आदत होती है कि कागज को या कपड़े को या किसी चीज को वह कुतरता है तो ऐसा कुतरता है, इतने छोटे-छोटे टुकड़े कर देता है कि आपको कतरनी से कतरना कठिन हो जाए। वह चूहा व्यवहार भेदनय का प्रतीक है। भेदनय से इस तरह से अंश कर करके पदार्थों को समझें। यह स्याद्वाद का प्रतीक किन्ही ज्ञानियों ने बना रखा था। अब स्याद्वाद अनेकान्त

ये सब बातें तो ओझल हो जाती हैं और चूँकि उस मुद्रा की महिमा चल रही थी तो आज वही बढ़-बढ़कर देवता के रूप में महिमावान माना जाने लगा ।

वीतरागताभय परमस्वास्थ्य सम्पन्न परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—प्रकरण यह कहा जा रहा कि वह परमात्मा स्वास्थ्य से युक्त है । स्वास्थ्य का अर्थ है ज्ञान-ज्ञान में वर्ते । रागद्वेष जहाँ रंच भी न आयें, विकार न रहें उसे कहते हैं स्वास्थ्य । जैसे देह में रोग आ जाए तो को कहने लगते कि हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया ऐसे ही आत्मा में रागद्वेष की वेदना अगर आयी तो उससे कहो कि स्वास्थ्य बिगड़ गया । प्रभु का अनन्त स्वास्थ्य है, रागद्वेष से बिल्कुल अतीत है । ऐसी वीतरागता से युक्त होते हुए परमात्मा मोक्ष में अनन्त सुख की अनुभव रहे ।

ये प्रभु आह्वाद से युक्त हैं । आह्वाद आनन्द एक ही बात है । शब्द से आह्वाद का अर्थ है कि चारों ओर से आनन्द । आह्वाद का यह अर्थ है कि प्रकृष्ट रूप से पूर्ण सीमा पार करता हुआ आनन्द । अर्थात् अनन्त आनन्द से युक्त हैं प्रभु । आनन्द कहते किसे हैं? चारों ओर से नन्द रहना । आ का अर्थ है चारों ओर से, नन्द का अर्थ है समृद्धिशाली रहना । लोग आनन्द का अर्थ सुख करने लगे, क्योंकि जीवों को इन्द्रिय सुख का ही तो परिचय है पर वह आनन्द नहीं कहलाता । जहाँ तरंग उठे, जहाँ ज्ञानादिक की कमी आए, विकास रुका हो उसे आनन्द नहीं कह सकते । नंद शब्द बना है टुनदि धातु से । दु का लोप हो जाता है और न का आगम हो जाता बीच में जिससे नंद शब्द बनता है, जिसका अर्थ है समृद्धिशाली होना । चारों ओर से अनन्त समृद्धिशाली होने को आनन्द कहते हैं । जिस आनन्द में आह्वाद भरा है आह्वाद भरा है पूर्ण निराकुलता में । ऐसे अनन्त आह्वाद से युक्त प्रभु निःश्रेयस में सुख पूर्वक रहते हैं ।

समाधिमरण का माहात्म्य और आत्मा के सच्चे मित्र का परीक्षण—अनन्तानन्द सम्पन्न निःश्रेयसता प्राप्त करना यह सब समाधिमरण का परिणाम है । जिसका विधिपूर्वक सम्बंध सहित मरण हो जाए उससे बढ़कर ऊंचा भवितव्य किसका कहा जाए? जीवन में अनन्त बातें काम आती हैं, अनेक सुख मिलते हैं । बड़े वैभव का मौज लूटते हैं, लोगों में सम्मान प्राप्त करते हैं । अनेक प्रकार के राजा महाराजावों का नाम जो पूजा जाता है ऐसे-ऐसे बड़े-बड़े ठाठ भी समाधिमरण के ठाठ के आगे तुच्छ चीज हैं । जिनको अपने मित्र पर, अपने माता-पिता पर, अपने कुटुम्बीजनों पर वास्तविक प्रेम उमड़ा हो तो उनको समाधि मरण का ही वातावरण बनाए रखना चाहिए । ऐसा नहीं कि मरते समय जैसे कोई कूर पुरुष किसी जीव का वध करे या मानो डाकुओं ने किसी पुरुष को मार डाला तो वह मर गया पर यह ख्याल करके कि कहीं इसके थोड़ी बहुत श्वास अभी चल तो नहीं रही वे पुनः लौटकर उसे मसल-मसल कर मार डालते ऐसा ही घर के लोग यदि मरने वाले के सामने राग की, ममता की बात करें तो समझलो कि वे उसके लिए बुरा कर रहे । अब उसके मरते समय शायद कुटुम्बीजन ऐसा सोचते हो कि कहीं थोड़ी बहुत श्वास तो नहीं चल रही याने कुछ विशुद्धि तो नहीं हो रही, विशुद्धि यदि चल रही तो मानो वे उसे रूपी शस्त्र से मसल-मसल कर मार रहे हैं । वह भी चैतन्य प्राण का घात होने से हत्या करने जैसा काम है । यद्यपि कुटुम्बीजन उसके साथ ऐसी कूरता का भाव करके तो नहीं मारते मगर राग मोह भरी बातें करके काम तो कर रहे हैं विकट हत्यारे जैसा ही । तो जिन्होंने निर्वाण पाया है उनका वह सब

समाधिमरण का माहात्म्य है। कोई तत्काल कोई निकट भवों में ऐसे समाधिबल से मुक्ति को प्राप्त करता है।

अनन्तृसिसम्पन्न परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—प्रभु तृप्ति से युक्त हैं बताओ वह तृप्ति कहां मिलेगी? इन्द्रिय सुख में मिलेगी, या मन के सुख में मिलेगी, या वैभव में मिलेगी, या कुटुम्ब में मिलेगी? क्या खूब खाते-खाते तृप्ति मिल जाएगी? नहीं। खूब खाते जाइये, खाने में काम करने का अन्त न आ पाएगा। और उसका प्रमाण है कि अनादिकाल से अब हम खूब खाते आये पर तृप्ति तो न मिल सकी। अरे वह तृप्ति बाहर में कहीं न मिलेगी। वहतो ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, यह स्थिति बने तो तृप्ति मिलती है। अन्य स्थिति में तृप्ति नहीं मिल सकती। कहां तृप्ति मिलेगी? विषयों की इच्छा दूर होगी तो तृप्ति मिलेगी विषयों के सेवन से तृप्ति नहीं मिल सकती। अब कितनी उल्टी बात चल रही है। लोग इसी रुचाल में हैं कि विषयों के भोगने में तृप्ति मिलेगी, पर जैसे ईंधन मिलते रहने से अग्नि कभी तृप्ति नहीं होती बल्कि आग की तृष्णा बढ़ती जाती है, अग्नि की वृद्धि होती ही रहती है, ऐसे ही ईंधन के समान हैं ये सब रह विषय साधन। इन विषय साधनों के संयोग में और इनमें अपने दिल को बहलाने में यह मोही तृप्ति के स्वप्न देख रहा है। उससे तृप्ति न होगी किन्तु तृष्णा ही बढ़ेगी और उन विषयों की वाच्छा दूर कर दी जायतो तृप्ति हो जाएगी। ऐसी तृप्ति से युक्त प्रभु मोक्ष में बड़े आराम पूर्वक रहते हैं।

सर्वशुद्धि सम्पन्न परमात्मा का निःश्रेयस में आवास—ब्रतों का निर्दोष पालन करके अन्त समय में समताभाव पूर्वक आयुक्ष्य करने वाला पुरुष उसी भव में अथवा कुछ एक भव बाद मनुष्यभव पाकर मोक्ष जाता है इसही विधि से मोक्ष जाने वाले। आत्मा सिद्ध अवस्था में किस प्रकार रहता है उसका वर्णन चल रहा है, वह परमात्मा द्रव्यकर्म से रहित है। भावकर्म से रहित तो पहले ही हो गया था अरहंत अवस्था में, अब द्रव्यकर्म और नो कर्म इनसे भी रहित हो गए, केवल आत्मा रहा अमूर्त आकाशवत् निर्लेप निरञ्जन केवल ज्ञाताद्रष्टा ऐसे शुद्ध एकत्व की स्थिति में वे सिद्ध भगवान अनन्त काल तक इसही स्थिति में रहेंगे, और इस स्थिति में रहकर आगे कभी भी रंचमात्र विकार को प्राप्त नहीं होते। विकार जो पहले हो रहा था संसार दशा में वह उपाधि का निमित्त पाकर हो रहा था। जब निरुपाधि हो गए तब धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य की भाँति पूर्ण शुद्ध परिणमन करने वाले हुए तो ऐसी शुद्धि को प्राप्त है। ऐसे प्रभु गुणस्मरण करने वाले पुरुष शीघ्र ही सहज शुद्धं चैतन्यस्वरूप का अनुभव कर पाते हैं, जिस अनुभव के आधार से विकास होता रहता है। आज हम आप अशुद्ध दशा में हैं और जो शुद्ध दशा में है ऐसे प्रभु हमारा कुछ करते नहीं है। हम को तार दें प्रभु, हम को कर्म से रहित कर दें ऐसा प्रभु नहीं करते। वे तो समस्त पदार्थों के जाननहार रहते हुए अनन्त आनन्द में तृप्ति रहते हैं। शुद्ध जीवद्रव्य की यही विशेषता है। तो अब हम इस आधार से अपना उत्थान कर सकते हैं, जो शुद्ध हैं, परमात्मा हैं वे तो अपने आनन्द में मग्न हैं वे मेरा परिणमन नहीं करते हैं, फिर हमारा शुद्ध परिणमन बने कैसे? तो उसका उपाय यह ही है कि हम अपने आत्मा के अन्तः प्रकाशमान सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आश्रय लें और इसका आश्रय करने के लिए सिद्ध भगवन्त के स्वरूप का हम स्मरण करेंगे, उनकी पर्याय आत्म स्वभाव के साथ एकमेक हुई है जो सहज स्वभाव है वैसा ही वहाँ विकास है। तो प्रभु के विकास को निरखकर हम आसानी से स्वभाव की दृष्टि में आ सकते हैं और इसीलिए भगवन्त के गुणस्मरण पूजा का कर्तव्य बताया है। तो वे

प्रभु उतना शुद्ध हैं जैसा कि सहज स्वभाव है उसही के अनुरूप उनका विकास है। ऐसी आत्मिक शुद्धि सहित प्रभु मोक्ष में अनन्त आनन्द सहित विराजते हैं।

निःश्रेयस को प्राप्त भगवंतों की निरतिशयता व निरुपाधिता—ये सिद्ध प्रभु निरतिशय हैं, निरतिशय के दो अर्थ हैं, निर का अर्थ है निःशेष याने समस्त जगत में जितना अतिशय हो सकता है उन सब अतिशयों के ऊपर परिपूर्ण अलौकिक अतिशय से युक्त है दूसरा अर्थ यह है कि सिद्ध भगवान में परस्पर कोई किसी का विशेष अतिशय नहीं है। अर्थात् एक सिद्ध की अपेक्षा दूसरे में कोई महिमा बढ़ी हो, अतिशय बढ़ा हो सो बात नहीं है। तो ऐसे निरतिशय सिद्ध भगवन्त मोक्ष में आनन्दपूर्वक परिणमन कर रहे हैं। ये प्रभु निरुपाधि हैं। सिद्ध हुए तो अब इनका कभी अन्त नहीं आता है अनन्त काल तक सिद्ध दशा ही रहती है। जीव एक बार शुद्ध होने पर फिर कभी अशुद्ध नहीं होता, उसका कारण यह है कि जब जीव शुद्ध हुआ है तब यह अकेला ही तो रहा। अब इसके साथ द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं, शरीर भी नहीं है, केवल एक विशुद्ध आत्मा मात्र है। सो आत्मा में कोई गुण ऐसा नहीं है जो हमारे बंध का कारण हो, विकार का कारण हो जिससे कि यह फिर से रागीद्वेषी बने। यद्यपि जीव में योग्यता है ऐसी कि कर्म के उदय का निमित्त पाकर यह रागीद्वेषी बन जाता है, मगर अशुद्ध पर्याय में ही ऐसी योग्यता है। जीवद्रव्य के द्रव्य में योग्यता नहीं है। यदि अशुद्धपर्याय जीव है तो द्रव्य कर्म का निमित्त पाकर वैभावि की शक्ति रागी द्वेषी बनती है। जैसे एक परमाणु में जल भरने की शक्ति नहीं है, पर अनेक परमाणु लेकर मिट्टी बनाकर घड़ा बन जाए तो उस घड़े में पानी भरने की योग्यता आ जाती है, यह है पर्याय-योग्यता। सो जीव में पर्याय योग्यता है ऐसी कि द्रव्यकर्म का सत्रिधान पाकर रागीद्वेषी बने, पर वह अशुद्ध पर्याय-योग्यता सिद्ध प्रभु में अब है नहीं इस कारण विकार आने का अब कोई प्रसंग नहीं रहा। अब वे सदा काल निर्विकार ही रहेंगे। इस प्रकार व्रती पुरुष निर्ग्रन्थ दिग्म्बर होकर निर्दोष साधना करके, निर्विकल्प समाधि के बल से मोक्ष को प्राप्त होता है। उस मोक्ष में किस प्रकार सुख अनुभवते हैं उसका वर्णन इस छंद में किया गया है।

श्लोक 133

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।

उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंप्रान्तिकरणपटुः ॥१३३॥

सिद्ध भगवंतों में सदा के लिए विकार की असंभवता—अनन्त कल्पकाल भी व्यतीत हो जाएं तो भी मुक्त आत्माओं के कभी भी विक्रिया नहीं आ सकती। चाहे ऐसा भी उपद्रव सामने आए कि जो उपद्रव तीन लोक को भी विचलित करने में समर्थ हो ऐसा उत्पात भी हो तब भी मुक्त आत्माओं में कभी विकार सम्भव नहीं है। कल्पकाल किसे कहते हैं? उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों का जितना समय है उसे कल्पकाल कहा जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में कितना समय है, सो यह छह तरह के कालों से विदित होता है। पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां, छठा काल इस क्रम से चले तो उसे बोलते हैं अवसर्पिणी काल और छठा, ५वां, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला इस प्रकार से काल चले तो उसे कहते हैं उत्सर्पिणी काल। इन दोनों

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के समय को कल्पकाल कहते हैं ।

सुषमा-सुषमा नामक प्रथमकाल की परिस्थितियों का दिग्दर्शन—पहले काल में भोगभूमिया जीव होते हैं, जिनकी तीन पल्य की आयु होती है, जिसमें असंख्याते वर्ष आ जाते हैं । तीन दिन में बहुत ही थोड़ीसी क्षुधा होती है सो छोटे बेर प्रमाण कल्पवृक्ष से उनका आहार प्राप्त होता है और इतने से ही ये तुष्ट हो जाते हैं । ये जुगलीयां उत्पन्न होते हैं बालक बालिका और ये ही परस्पर सुख पूर्वक रहते हैं वहाँ ब्रत की प्रक्रिया नहीं होती है । अब्रती ही रहते हैं सब, जिन्दगीभर सुख आराम से रहते हैं । इस प्रथम काल की स्थिति है चार कोड़ाकोड़ी सागर । एक करोड़ सागर में स्व करोड़ सागर का गुणा किया जाए, जितना काल लब्ध हो उसे कहते हैं कोड़ाकोड़ी सागर । ऐसे चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण प्रथम काल है । एक कोड़ाकोड़ी सागर में अनगिनते वर्ष होते हैं, जिन्हें उपमा द्वारा बताया गया है । इतने लम्बे काल को उपमा द्वारा ही बताया जा सकता है । और कोई उपाय नहीं है कि जिससे उस काल की परख की जा सके । उपमा इस प्रकार दो गई हैंकि मानों दो हजार कोश का लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा हो और उसमें बहुत कोमल बाल के टुकड़े जिनका कि कतरनी से दूसरा टुकड़ा न बन सके, उन छोटे-छोटे टुकड़ों को बड़े विशाल गड्ढे में ठसाठस भरा जाए, मानो उस पर हाथी फिरा दिया जाए, खूब ढूँसकर भर जाए, अब उनमें से प्रत्येक १०० वर्ष में एकएक बाल का टुकड़ा निकाला जाए तो इस तरह से जितने काल में निकलें वह है व्यवहार पल्य । उससे असंख्यात गुना होता है उद्घारपल्य । और उससे भी असंख्यातगुना समय होता है उद्घारपल्य । ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्घारपल्य का एक सागर होता है । ऐसे ४ कोड़ाकोड़ी सागर तक उत्तम भोगभूमि रहती है इस भरत क्षेत्र में । ढाईद्विंश के अन्दर ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र हैं उनमें इसी तरह से क्रम चलता है ।

दूसरे और तीसरे काल की परिस्थितियां—सुषमा सुषमा काल के बाद दूसरा काल आता जिसमें मध्यम भोगभूमि रहती । मनुष्यों की दो पल्य की आयु रहती । तीसरे काल में जघन्य भोगभूमि होती । वहाँ एक पल्य की स्थिति रहती जब तीसरे काल का अन्त होता है और कल्पवृक्ष मंद हो जाते हैं, लोगों को तकलीफ होने लगती है, भोग भूमि के समय में सिंह हाथी बगैरह भी थे मगर वे भी निकट रहते थे । क्रोध करना, मारना, ये कुछ न चलते थे फिर ये जानबूझकर कूर होने लगे । चन्द्र सूर्य के दर्शन न होते थे भोगभूमि के समय में कल्पवृक्ष की ज्योति के आगे । अब कल्प वृक्षों की ज्योति मन्द होने से चन्द्र सूर्य दिखने लगे । कल्पवृक्ष भोजन आहार कम देने लगे, यहाँ लोगों के भूख बढ़ने लगी तो कल्पवृक्ष का बंटवारा चला । इतने लोगों के लिए इतने क्षेत्र में कल्पवृक्षों से काम करें । चन्द्र सूर्य और सिंहादिक से जो भय होने लगे तो कुलकरों ने वह भय टालने का उपदेश दिया, प्रयत्न बताया । धीरे-धीरे कर्मभूमि आने लगी तो वे सब सुख सुविधाएँ विघटने लगीं ।

चौथे, पांचवे व छठे काल की परिस्थितियां व कल्पकाल का परिमाण—तीसरी भोगभूमि याने जघन्य भोगभूमि के अन्त में अब लगता चौथा काल तो उसके प्रारम्भ में तीर्थकरों की उत्पत्ति होती । अब वहाँ से कर्मभूमि लगी । कुलकरों ने लोगों को जिन्दा रहने के उपाय बताये और खासकर इस भरत क्षेत्र में तो ऋषभदेव भगवान् हुए । असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प सेवा के पट कर्म का उपदेश देकर लोगों को अभय किया । यह सब बताया

था ऋषभ देव ने गृह अवस्था में। चौथे काल में निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर मोक्ष जाने का उपदेश चल उठता। चौथे काल में उत्पन्न हुआ जीव पंचम काल में भी मोक्ष जाता है, पर पंचमकाल में उत्पन्न हुआ जीव मोक्ष नहीं जाता। आज यह पंचमकाल है, इसके बाद छठा काल आएगा जहाँ अग्नि, धर्म, ये कुछ न रहेंगे, भोजन रसोई कुछ न रहेगा। मनुष्य हों या पशु हों सब मांस पर ही जीवित रहेंगे। इतना निकृष्ट काल है। जहाँ आयु २० वर्ष की रहेगी। एक हाथ प्रमाण के मनुष्य होंगे। जब यह छठा काल पूर्ण होगा तो अन्त में प्रलय होगी भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में। इस प्रलय में ४९ दिन तक अग्नि वर्षा आदि द्वारा प्रलय होती है सबका विघ्नसंहार होता। पर कुछ जीव बच जाते जिन्हें देवों ने गुफाओं में रख कर बचाया। कोई विचारे खुद गुफादिक सुरक्षित स्थान में पहुंच कर बच जाते। प्रलय के बाद फिर ४९ दिन अच्छी वर्षा होती है। वे बचे हुए जीव निकलने लगते हैं और फिर उनसे आगे संतान होती, संख्या बढ़ने लगती है। अब वह छठा काल हो गया उत्सर्पिणीकाल का। इस छठे के बाद पंचम काल आएगा। पंचम काल के बाद चौथा काल आएगा जिससे फिर निर्वाण होना शुरू होगा। उसके बाद तीसरा दूसरा और पहला इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का जितना समय है वह एक कल्पकाल कहलाता है। कितने हुए ये सब? २० कोड़ाकोड़ी सागर। पहले का चार कोड़ा कोड़ी सागर, दूसरे का ३ कोड़ाकोड़ी सागर, तीसरे का दो कोड़ा कोड़ी सागर, चौथे ५वें, छठवें का एक कोड़ा कोड़ी सागर, जिसमें पंचम काल २१ हजार वर्ष का है, छठा भी २१ हजार वर्ष का है। यों ४२ हजार वर्ष कम करके बाकी सारा एक कोड़ा कोड़ी सागर चौथे काल का होता है। ऐसे २० कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्पकाल और ऐसे अनन्त कल्पकाल भी गुजर जाएं और तीन लोक को विचलित कर सकने वाला उपद्रव भी खड़ा हो तो भी मुक्त आत्माओं में कभी भी विक्रिया सम्भव नहीं है।

श्री ऋषभदेव से पहिले अठारह कोड़ाकोड़ी सागर काल जक धर्मतीर्थ की अप्रवृत्ति —एक भजन बोला जाता है कि १८ कोड़ा कोड़ी सागर व्यतीत हुए बाद धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति हुई। भजन की टेक है—अठदश कोड़ाकोड़ी सागर सुस्थ काल जब बीत गए। प्रथम तीर्थकर आदि जिनेश्वर अवतरहि धर्म कृतार्थ भए। जिसका अर्थ है कि १८ कोड़ाकोड़ी सागर तक धर्म की प्रवृत्ति यहाँ नहीं रही, उसके बाद ऋषभदेव भगवान का अवतार हुआ और वहाँ पुनः तीर्थप्रवृत्ति चली तो आप उसकी गणना लगाएँ कि ऋषभ देव जब उत्पन्न हुए उनसे पहले १८ कोड़ा कोड़ी सागर तक धर्म न रहा। वह किस तरह? तो ऋषभ देव भगवान अवसर्पिणी काल के तीसरे काल के अन्त में चौथे काल से कुछ पहले हुए तो उनको पहले कितना समय और गुजरा? तो ऋषभदेव के जन्म के समय से पहले दो कोड़ाकोड़ी सागर का तीसरा काल था। उससे पहले तीन कोड़ाकोड़ी सागर का दूसरा काल था, उससे पहले ४ कोड़ा कोड़ी सागर का पहला काल था, फिर उसके पहले चार कोड़ा कोड़ी सागर का पहला कौन था और उससे पहले तीन कोड़ा कोड़ी सागर को दूसरा कौन था। उससे पहले दो कोड़ा कोड़ी सागर का तीसरा काल था। उससे पहले तीर्थकर हुए थे। इस तरह ९ कोड़ा कोड़ी सागर उत्सर्पिणी के और ९ कोड़ा कोड़ी सागर अवसर्पिणी के ऐसे १८ कोड़ा कोड़ी सागर के काल में धर्मतीर्थ न था, फिर ऋषभदेव के समय धर्म की प्रवृत्ति- हुई।

ऋषभदेव भगवान की लोकपूज्यता—आज भी ऋषभदेव को लोग अनेक रूप में मानते हैं। कोई ब्रह्मा के

रूप में, कोई शंकर के रूप में, कोई आदम बाबा के रूप में और कोई ऋषभदेव के रूप में मानते हैं। ब्रह्मा के रूप में तो लोग यों कहने लगे कि भोगभूमियों के व्यतीत होने के बाद विकट समस्या का काल आ गया। लोग कैसे खाएं पिये, जिन्दा रहे, यह एक विकट समस्या आ गयी थी। इस समय जो प्रभु ने व्यवस्था बतायी तो वह मानो एक नए जन्म की तरह, नई सृष्टि की तरह थी सो उन्हें एक सृष्टिकर्ता के रूप में माना जाने लगा। धर्मतीर्थ की रचना भी चली सो भी स्रष्टा कहलाने लगे। लोग ब्रह्मा को चार मुख वाला बताते हैं तो बात यह है कि वे ऋषभदेव जब समवशरण में विराजे थे तो वे चतुर्मुख थे। इन्हीं प्रभु को लोग शंकर या कैलाशपति के रूप में मानते हैं। चूँकि कैलाश पर्वत पर उनका बहुत अधिक समय व्यतीत हुआ था और ऋषभदेव कैलाश पर्वत से मुक्त भी हुए। और सुख देने वाले होने से शंकर कहलाएँ, शं सुखं करोति इति शंकरः। उन्हें कोई आदिम बाबा भी कहते हैं, और भी एक बात देखने को मिलती कि यदि कोई कैलाश पर्वत के निकट पहुंचे और वहाँ के लोगों से पूछे कि किधर है कैलाश पर्वत का रास्ता बता दो, हम कैलाश पर्वत जाएंगे? तो वहाँ लोग आश्र्य से आकर कहेंगे क्या आदम (आदिम) बाबा के स्थान पर जायेंगे? आदिम कहते हैं उसे जो आदि में हो। जैसे जो अन्त में हो सो अन्तिम ऐसे ही जो आदि में हो सो आदिम। तो इतनी प्रसिद्धि क्यों हुई कि वह ऐसी विकट समस्या का समय था कि लोगों को कोई मार्ग का बोध न था कि अब हम कैसे जिन्दा रह सकते। तो उस समय की व्यवस्था ऋषभदेव ने गृहावस्था में बतायी। यद्यपि ऋषभदेव कुलकर न थे। कुलकर तो उनके पिता नाभिराज थे। वे १४वें कुलकर हुए। उससे पहले १३ कुलकर और हुए। उन कुलकरों का काम था कि ऐसी विकट समस्या जब आती थी कि किसी समय सूर्य चन्द्र दिखने लगे, किसी के सामने सिंह गुजरने लगे ऐसी विविध घटनाएँ आयी, उस समय इन कुलकरों ने इन समस्याओं का समाधान किया।

परमात्मा में विकार की अत्यन्त असंभवता—यहां बतला यह रहे हैं कि ऐसे कल्पकाल सैकड़ों गुजर जाएँ और बड़े-बड़े उत्पात भी हो जाएँ तो भी सिद्ध प्रभु के कभी विकार सम्भव नहीं है। अब तो उनकी स्थिति धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य की तरह विशुद्ध स्थिति है। यद्यपि परिणमन बंद नहीं हुआ है। परिणमन करना तो वस्तु का स्वभाव है, प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है, और इस तरह धर्मादिक द्रव्य भी निरन्तर परिणमते रहते हैं। तो वह सब परिणमन स्वभाविक शुद्ध परिणमन होता है। यों कह लीजिए कि 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्दरस लीन।' वे तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थों के जाननहार हैं किन्तु अपने अनन्त आनन्दरस में लीन रहते हैं। प्रभु का परिणमन जिस भव्य आत्मा की समझ में आ जाए वह स्वभाव का अनुभव कर लेता है, अलौकिक आनन्द का अनुभव कर लेता है और उसका यह निर्णय बन जाता है कि काम तो एक यही सारभूत है। बाकी सब असार काम है। प्रभु का परिणमन केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है, प्रतिभास हो रहा है, समस्त का प्रतिभास कर रहे। यहाँ कोई ख्याल कर सकता कि जैसा प्रभु जान रहे वैसा अगर हम जानते तब तो फिर बड़ा ही अच्छा होता। सारी चीजों के भाव हमारे ज्ञान में पहले से ही आ जाते, फिर तो हम मालोमाल बन जाते। प्रभु को उस ज्ञान के पाने से क्या फायदा (हंसी) ऐसा कुछ लोग सोचे सकते, मगर यह जाने कि जिसके ऐसी भावना हो कि ज्ञान होता तो मैं कुछ से कुछ बन जाता, तो ऐसा जीव कभी केवल-ज्ञान ही नहीं कर सकता। सबको जानने वाले वे प्रभु सर्वज्ञ तब ही हैं जबकि उनके चित्त में

रंच भी विकार नहीं है । ऐसे ये प्रभु सदैव के लिए मेरे नमस्कार किए जाने योग्य और अनन्त आनन्द को भोगने वाले होते हैं ।

श्लोक 134

निःश्रेयसमधिपन्नास्तैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।

निःष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥१३४॥

निःश्रेयस को प्राप्त भगवंतों की त्रिलोकोक्तृष्ण शोभा—ब्रत पालन और समाधिमरण के प्रताप से मनुष्यभव में निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि होकर धर्मसाधना करके निर्विकल्प समाधि के बल से जो मोक्ष को प्राप्त हुए हैं वे आत्मा कैसे शोभायमान हैं, विराजमान हैं? विकास युक्त हैं, इसका वर्णन इस छंद में किया गया है । ये सिद्ध प्रभु तीन लोक के शिखामणि की शोभा को धारण करते हैं, वे तीन लोक के अन्त में विराजमान हैं जिसके बाद फिर लोक नहीं हैं, मात्र आकाश ही आकाश है, यह तीन लोक की शिखा की मणि कहलायी । दूसरी यह बात है कि तीन लोक के इन्द्र उनकी महिमा गाते हैं तो इसके मायने यह हुआ कि सब जीवों ने महिमा गायी । ऊर्ध्व लोक के इन्द्र हैं स्वर्गों के इन्द्र, मध्य लोक के इन्द्र हैं चक्रवर्ती और सिंह । मनुष्यों का इन्द्र है चक्रवर्ती और तिर्यज्ज्वों का इन्द्र है सिंह । और अधोलोक के इन्द्र भवनवासी और व्यन्तर देवों के जो प्रकार हैं उनके इन्द्र हैं, ऐसे तीन लोक के इन्द्रों ने जहाँ प्रभु को नमस्कार किया, आदर किया, भक्ति की, वंदना की तो वहाँ समझिए कि तीनों लोक के द्वारा पूज्य कहलाए । मेरु पर्वत की जड़ जहाँ समाप्त होती है वहाँ तक तो है मध्यलोक अर्थात् नीचे में इस पृथ्वी के ऊपरी तल से एक हजार योजन नीचे तक मध्य लोक है, उसके नीचे अधोलोक प्रारम्भ होता है । सो अधोलोक में पहले के जो २ खण्ड हैं इस पृथ्वी के उनमें भवनवासी और व्यन्तर देवों के भवन हैं । वहाँ तक व्यन्तर रहते हैं, व्यन्तर फिर यहाँ भी मध्य लोक में रहने लगते । जैसे टूटे-फूटे मकान, पीपल आदिक पेड़ अथवा कोई निर्जन जंगल, यहाँ पर भी निवास करने लगते हैं । तो ये भवनवासी और व्यन्तर इनके इन्द्र अधोलोक के इन्द्र कहलाते हैं, इन सब इन्द्रों के द्वारा जिसके गुण वंदनीय हुए वे सिद्ध प्रभु तीन लोक के शिखामणि की शोभा को प्राप्त हुए हैं, जैसे कि ऐसे स्वर्ण के आभूषणों में, जिन में कीट नहीं, कालिमा नहीं, उत्कृष्ट छवि है इस प्रकार से जिसके द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं, नो कर्म नहीं, ऐसे उत्कृष्ट चैतन्य चमत्कार रूप हैं । द्रव्यकर्म और नो कर्म तो बाह्य मल है, और भावकर्म जीव का आन्तरिक मल है । जैसे खोटे सोने में बाह्यमल और आन्तरिक मल होता है, सो तपा देने पर दोनों ही मल दूर हो जाते हैं, ऐसे ही आत्मा में कर्म और नोकर्म तो द्रव्यमल हैं, बाह्य मल है और भावकर्म रागद्वेषादिक विकार ये आन्तरिक मल हैं । सो चैतन्य स्वभाव में उपयोग को लगाने रूप तपश्चरण से तपा देने पर ये दोनों ही प्रकार के मल दूर हो जाते हैं । तब ये अत्यन्त शुद्ध सदा के लिए शुद्ध सिद्ध प्रभु तीन लोक के शिखामणि की शोभा को प्राप्त होते हैं ।

मोक्षधाम की मंगलरूपता—इस जीव के अनादि से तो निगोद निवास कुटी बनी थी । सिद्ध होने पर अनन्त काल के लिए मोक्ष निवास धाम बनता है । यह जीव अनन्त काल व्यतीत करते हैं तो दो जगह व्यतीत करते

हैं—निगोद में या मोक्ष में। बीच की जितनी अवस्थाएँ होती हैं इनमें अनन्त काल कभी नहीं गुजरता, उनकी अवस्थाएँ होती है कुछ सागरों की और वह समय पूरा होने पर फिर वह अगर मोक्ष गया तो गया, नहीं तो निगोद जाना पड़ता है। सो निगोद अवस्था में भी रहने वाले जीवों का, निगोद का अन्त हो जाता है। निगोद तो अनादि है और मोक्ष अनन्त है। तो हम आपको सदा कहां रहना पड़ता है, यह भी तो ध्यान दो, या तो चिरकाल निगोद रहना पड़ता या फिर अनन्तकाल मोक्ष में रहेंगे। अब यह अपनी पसंद कर लो कि निगोद ही प्रिय है या मोक्ष धाम प्रिय है? बीच की ओरें टिकेगी नहीं, त्रस पर्याय पाने का काल कुछ अधिक दो हजार सागर है। इससे अधिक त्रस पर्याय में नहीं रह सकता। निगोद को छोड़कर शेष स्थानपर भी रहने का काल त्रस काल से तो कई गुण है। मगर वहां भी अपना काल गुजर जाने पर निगोद में आना पड़ता है। तो निगोदवास तो प्रिय न होना चाहिए। रही यह बीच की हालत, तो इस हालत में यदि कोई चेत गया, सम्यक्त्व का लाभ पा लिया तो वह पुरुष कल्याण करेगा, मोक्ष जाएगा।

जीवन को निर्देष आचरण में बिताने का अनुरोध—भैया अपने जीवन में आग्रह बनाइए सम्यक्त्व बनाए रहने का, बाह्य परिणतियों के बारे में आग्रह न रखिए। कोई कैसा परिणमता है, कैसा ही चलता है, उसका हर्ष विषाद न करना, अपने परिणामों को निर्मल और न्याययुक्त बनाना, दूसरे लोग कैसा ही परिणमे वे मेरे कुछ नहीं लगते, न वे मेरे मित्र हैं न शत्रु हैं, न वे वास्तविक बन्धु हैं। मुझ आत्मा से अत्यन्त भिन्न सत्ता वाले हैं। तो उनके किसी भी प्रकार के परिणमन से मेरे आत्मा में कुछ खोट नहीं आती। मैं ही उनका आश्रय करके उनको कल्पना में लेकर शुभ अशुभ विकल्प करूं तो उससे मेरे को नुकसान पड़ता है। शुभ विकल्पों में कम नुकसान है, पर धर्म का मार्ग मिलने का अवसर है। अशुभ विकल्पों में सारा नुकसान ही नुकसान है। तो अपने आप पर करुणा करें, अपने को निरखें एक चैतन्य स्वभावमात्र। इस चैतन्यस्वभावमात्र मुझ आत्मा का दुनिया में कोई क्या लगता है? धर्मात्माजनों से तो यों प्रेम करना बताया कि वे परस्पर एक दूसरे के धर्मविकास में सत्संग मात्र से सहयोगी हैं। वे भी हमारे विकास में सहयोग नहीं दे सकते, पर जब हम उनको धर्मधारण किया हुआ निरखते हैं, रागद्वेष दूर कर समता भाव में पाते हैं तो दर्शन करके खुद के धर्म में भी प्रेरणा मिलती है। इस कारण धार्मिक भावों में वात्सल्य करना तो किसी अपेक्षा से लाभदायक है मगर जो रत्नत्रयधारी नहीं है, सम्यक्त्व का जिनको अनुराग नहीं है ऐसे अज्ञानीजन चाहे वे कुटुम्ब में हो, चाहे वे बाह्य जगह हों, उनका अनुराग कल्याण के लिए नहीं होता। हां परिस्थिति कोई होती है, घर में रहना पड़ रहा है, तो उनसे रागव्यवहार किए बिना गुजारा नहीं है, पर भीतर में राग नहीं रहता।

विरक्ति का माहात्म्य—ज्ञानी जीव घर में इस प्रकार रहता है जैसे जल में कमल रहता है। कमल जल से ही तो पैदा होता और फिर भी जल से दूर रहता है, ऐसे ही यह गृहस्थ इस घर में ही तो पैदा हुआ फिर भी ज्ञानी गृहस्थ घर से दूर रहता है। जैसे जल से पैदा हुआ कमल इस प्यार से मानों कि उस जल से ही तो पैदा हुआ हूं सो जल में ही भिड़ जाए, जल में ही बसने लग जाए तो वह कमल सड़ जाता है, उसकी फिर शोभा नहीं रहती है, ऐसे ही यह गृहस्थ यह सोचकर कि मैं इस परिवार से ही तो पैदा हुआ हूं सो वह परिजन में बस जाए, मिल जाए, आसक्त हो जाए तो वह गृहस्थ भी सड़ जाता मायने बरबाद हो जाता। ज्ञानी गृहस्थ

तो परम्परया निर्वाण पाते हैं और जो मुनिजन बज्रबृषभनाराच संहनन के धारी हैं वे विरक्त रहकर आत्मधर्म की साधना करते हैं और उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं। आज पंचम काल में हीन संहनन है, छठा संहनन है और छठा संहनन होने के कारण वह ध्यान नहीं बनता जिस ध्यान से निर्वाण होता है फिर भी अपनी शक्ति अनुसार आत्मधर्म की साधना मुनिजन किया करते हैं। उसका फल आगे प्राप्त होगा। तत्काल तो पाप से बचना हो रहा है और मरण करके कोई सद्गति मिलेगी, यह भी भला है। तो कल्याण चाहने वाले जीवों को सही विवेक रखना चाहिए। यह मैं आत्मा कुटुम्ब आदिक से तो भिन्न हूँ ही, शरीर से भी निराला हूँ। देहादि से अत्यन्त भिन्न स्वरूप है जीव का। जीव है चैतन्यस्वरूप, शरीर है पौद्गलिक, भले ही निमित्त नैमित्तिक बन्धन है और उस बन्धन के प्रभाव में आता है, लेकिन लक्षण दोनों का अत्यन्त निराला है सो अपना लक्षण जानकर केवल ज्ञानमात्र आत्मा में ही आत्मत्व बुद्धि करना चाहिए। यही एक मौलिक साधना है, जिसके बल से यह जीव निर्वाण को प्राप्त होगा।

१३०क 135

पूजार्थज्ञैश्वर्यैर्बलं परिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।

अतिशयितभवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१३५॥

सद्धर्म का अद्भुत अतिशयित फल—सद्धर्म महान् अभ्युदय का फल देता है। ये अभ्युदय लौकिक और अलौकिक दो प्रकार के हैं। अलौकिक अभ्युदय तो है मोक्ष, जिससे बढ़कर अन्य कोई पद नहीं है और लौकिक अभ्युदय है इन्द्र हो जाना चक्री हो जाना आदि। ऐसे अभ्युदय के सम्बन्ध में यहाँ यह कहा जा रहा है कि सद्धर्म अतिशयित अभ्युदय का फल देता है। सो धर्म तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्कारित्र रूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय से निर्वाण लाभ है। आत्मस्वभाव विकास रूप के रत्नत्रय के भावों से तो इन्द्रादिक की पदवी नहीं मिलती। इन भावों से तो मोक्ष मिलता है। रत्नत्रय भावों के होते सन्ते जो शुभ राग शेष रहता है उस शुभ राग का फल है कि इन्द्र चक्री आदिक पद प्राप्त होना। तो इसमें तो रत्नत्रय धर्म की और बड़ी महिमा ज्ञात होती है कि जिस रत्नत्रय का संग पाकर राग भी इतने ऊचे पद को दिला देता है। तब फिर रत्नत्रय की महिमा तो कह ही कौन सकता है? रत्नत्रय है आत्मा का विकास और शुभ राग है आत्मा का विकार। मगर है वह शुभ। तो धर्म का सम्बन्ध पाकर जो रागद्वेष होता है वह भी धर्म कहलाने लगता है। जैसे श्रावकजन पूजन आदिक करते हैं तो श्रावकों को आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है और आत्मा के सत्यस्वरूप को दृष्टि में रखते हैं और जानते हैं कि यह स्वभाव जहाँ प्रकट हो गया वही है प्रभु। ऐसा परिचय रखने वाला श्रावक पूजा करके भी यथोचित धर्म का लाभ ले लेता है, किन्तु जिनको आत्मा के स्वरूप का परिचय नहीं है, अनुभव नहीं है, वे पूजा करके भी धर्मलाभ नहीं ले पाते। किन्तु जितना मंद कषाय हो उसके अनुसार पुण्य लाभ पाते हैं।

पाप, पुण्य व धर्म के फलों का संकेत—भाव तीन प्रकार के हैं—पाप पुण्य और धर्म। पाप भाव तो अत्यन्त खोटा है, उसके फल में तो जीव नाना दुर्गतियों में जन्म लेता है, मरता है, खोटी गतियों को ही पाता है। और पुण्य के प्रभाव से सद्गति में जन्म होता है। अब वहाँ भी यदि व्यवहार धर्म सहित पुण्य लाभ किया तो

वह अच्छी समृद्धियां पाता है और व्यवहार धर्म भी नहीं है, पर हां कुछ दयाभाव होने से पुण्य बंध रहा है, जैसे प्राणियों को भोजन आदिक देना, उनकी क्षुधा आदिक मेटना, ठंड में रहने वालों को कपड़ा देना, लौकिक दुःख मिटा देना इस प्रकार की जो दयारूप प्रवृत्ति कर के पुण्य लाभ पाते हैं उस पुण्य से भी गति कुछ अच्छी तो होती है मगर ऊंचे स्वर्ग या नवग्रैवयक आदिक के पद नहीं प्राप्त कर सकते। जिस आत्मा में रत्नत्रय धर्म का सम्बंध हो व कुछ आत्मा में राग भी हो तो वह राग भी ऊंचे अभ्युदय को प्रदान करता है। धर्म का फल तो मोक्ष धाम का लाभ है। इन तीनों भवों में उत्कृष्ट भाव धर्म परिणाम है।

सद्धर्म के फल में पूजा और अर्थ का अतिशय—अतिशय क्या-क्या हैं जिन अतिशय सहित सद्धति प्राप्त होती है। पूजा, प्रतिष्ठा, इज्जत मिल जाना, जैसे इन्द्र हुए तो अनेक देवों के द्वारा आदरणीय हुए, बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा महाराजा हुए वे भी लोगों के द्वारा आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। अथवा योगीजन हुए तो उस योग अवस्था में आदर प्राप्त करते हैं। सो पूजा, इज्जत, यश जहाँ अतिशय पाया जाता है ऐसे अतिशयों से युक्त अभ्युदय को प्राप्त होते हैं धर्म के प्रभाव से। एक अतिशय अर्थ का भी हैं, धनिक हो जाना, जैसे मनुष्य प्रायः दो बातों की कल्पना करते हैं कि मैं राजा होऊं या करोड़पति होऊं। कुछ सुन रखा हो तो मैं देवेन्द्र होऊं, ऐसा भी सोचने लगते हैं। तो यह लोक में आश्चर्यसा माना जाता है। तो धन का लाभ होना यह भी सद्धर्म का फल है, जब-जब लोकवैभव की बात कही तब-तब यह अर्थ लेना कि रत्नत्रय जिस आत्मा में है उसमें जो राग रह गया है वह राग व्यवहार धर्म कहलाता है। जैसे पूजा करना तप करना यह सब व्यवहार धर्म है, तो वास्तविक धर्म के प्रसंग में इन व्यवहार धर्मों में भी इतना माहात्म्य है कि लौकिक अभ्युदय इनके द्वारा प्राप्त होता है। ऐसी बात सुनकर व्यवहार बनाना अर्थात् शुभ राग पर आग्रह न करना किन्तु यह जानना कि इस शुभ राग में, व्यवहार धर्म में निश्चय धर्म के प्रसंग में यह माहात्म्य है तब निश्चय धर्म की दृष्टि और आस्था करना और उस रूप अपना लक्ष्य बनाना। तो विशेष धनिक हो जाना, कोट्याधीश हो जाना यह लौकिक अतिशय है। अम्युदय है यह भी धर्म द्वारा प्राप्त होता है। मनुष्यों को अपने जीवन में सदैव उच्च विचार रखना चाहिए। किसी जीव को मेरे द्वारा बाधा न हो, चाहे किसी प्रसंग में खुद दुःखी हो जाए तो वह अपना दुःख अपने को समझाकर मिटा लेगा, किन्तु अपनी कोई चेष्टा ऐसी न हो कि जिससे दूसरों को बाधा पहुंचे जितना अपने से बने उतना धर्म कार्यों में सहयोग दें, पर ऐसा कभी मन में कषाय न लाना कि दूसरे के द्वारा कोई धर्म कार्य बन रहा है तो उसमें अड़चन डालें, विघ्न डालें, क्योंकि धर्म प्रसंग में ऐसा भी कभी-कभी चित्त में कषायभाव जग जाता है कि यह कार्य मेरे द्वारा हो तो ठीक है, दूसरे का नाम हो तो वह नहीं सहा जाता। तो दो बातों का जीवन में मुख्य ध्यान रखना है कि एक तो अपनी चेष्टा वृत्ति द्वारा किसी दूसरे को बाधा न पहुंचे और कोई कैसे भी व्यवस्था बनाता रहता है तो उसके धर्म में विघ्न न डालें, दूसरे व स्वयं यथा शक्ति धर्मकार्यों में सहयोग करें ये दो बातें जीवन में रहें तो समझो कि वह अपनी गृहस्थी की परिस्थिति में धर्म लाभ का ही काम कर रहा है। तो ऐसा धर्म का फल है पूजा प्रतिष्ठा पाना और लौकिक धन वैभव सम्पदा प्राप्त होना।

सद्धर्म के फल में आज्ञा व ऐश्वर्य का लौकिक अतिशय—लौकिक अतिशय आज्ञा और ऐश्वर्य भी है।

दूसरे जीवों पर आज्ञा चले, ऐसी आज्ञा करने लायक महत्त्व पा लेना यह भी सद्धर्म का फल है। ऐश्वर्य जिसमें कुछ पराधीनता न रहनी पड़े। सब कुछ सुविधाएँ अपने आपको प्राप्त हों जिससे किसी भी कार्य के लिए दूसरों की अधीनता न करनी पड़े। ऐसे वातावरण को कहते हैं ऐश्वर्य। जहाँ ऐश्वर्य होता है वहाँ आज्ञा देने लायक महत्ता स्वयं प्राप्त हो जाती है। इन अभ्युदयों को बता रहे हैं लौकिक दृष्टि से भले है। परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो यह सब भी क्लेश है। आज्ञा मानने वाला पुरुष जितना कष्ट में नहीं है उससे अधिक कष्ट में रहता है आज्ञा देने वाला पुरुष। फिर भी लौकिक दृष्टि में महत्ता तो आज्ञा देने वाले की होती है। वह सब पुण्य का फल है। तो ऐसा सुख सुविधा का प्रसंग, ऐसा लौकिक अतिशय उस प्राप्त पुण्य के फल से प्राप्त होता है।

सद्धर्म के फल में विशिष्ट बल आदि का लौकिक अतिशय—बल प्राप्त होना लौकिक अभ्युदय है। पुराणों में सुना जाता है कि श्रीपाल कोटिभट थे अर्थात् एक करोड़ योद्धाओं में जितना सामर्थ्य होता है उतना उनमें था। और भी अनेकों बड़े-बड़े बलशाली लोग सुने जाते हैं तो शरीर का बल आना यह भी तो सद्धर्म का फल है। अर्थात् धर्मयुक्त आत्मा में शुभराग वश जो पुण्य आया उसका फल है। जितनी बातें घमंड करने के लिए आश्रयभूत होती है समझ लीजिए कि वह सब वैभव पुण्य के प्रताप से प्राप्त होता है। सो कोई मनुष्य इन सब वैभवों को प्राप्त करके यदि दूसरों पर अन्याय को तो ऐसा पाप करने वाला पुरुष अब कहां जाएगा? नारकादिक दुर्गतियों में जाएगा। तो एक निगाह से अगर देखें तो पुण्योदय ने साक्षात् तो नहीं मगर परम्परया नरक भेजा। कैसे? उस पुण्योदय से वैभव ऐश्वर्य बना, उससे मतवाले हुए, अन्याय किया और दुर्गति में गए। सो यद्यपि साक्षात् पुण्य ने नहीं भेजा पर पुण्यफल पाकर यदि यह विवेकी नहीं रहता तो यह संसार में दुर्गतियों में जन्म लेता है। परन्तु जहाँ सद्धर्म का प्रसंग मिला है और वहाँ पुण्य से जो वैभव मिला है तो उसमें धारा धर्म की रहती है और धर्म की आराधना से यह मोक्ष के अभ्युदय को प्राप्त होता है। लोक में अनेक आज्ञाकारी परिजन व भोग सुविधाएँ मिलना यह भी अतिशय है, लोक में आदर से देखने योग्य बात है। तो ऐसी भोग सुविधाएँ इन्द्रियविषय देह के आराम लोगों द्वारा एक धनी इज्जत, ये सारी बातें सद्धर्म के साथ हुए व्यवहार धर्म के फल हैं। समाधिमरण में रहने वाला पुरुष इस प्रकार धर्म का चिन्तन करता है और अपने आपके आत्मा को सावधान करता है जिससे कि अपने इस सहज आत्मस्वरूप में ही रमे। इस प्रकार समंतभद्राचार्य ने समाधिमरण के प्रसंग में उपदेश किया है।

दिन रात मेरे स्वामी मैं भावना यह भाऊं।

देहान्त के समय में, तुम को न भूल जाऊं॥

॥रत्नकरण्ड प्रवचन तृतीय भाग समाप्त॥